मनोरंजन पुस्तकमाला ४६

तर्क शास्त्र

(पहला भाग)

लेखक—

एम० ए० एल० एल० बी०

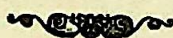
प्रकाशक—

काशी नागरीप्रचारिणी सभा ।

मनोरंजन पुस्तकमाला—४९

तर्क शास्त्र

[पहला भाग]



लेखक

गुलाबराय एम० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

संवत् १९८२

प्रथम संस्करण] [मूल्य १)

गणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी में मुद्रित ।

भूमिका

—*—

मैंने अपने लिखे हुए "कर्तव्य शास्त्र" (मनोरंजन पुस्तकमाला नम्बर ३१) की भूमिका में दो बातों पर बहुत जोर दिया था। एक तो यह कि हमारी शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा ही हो; और दूसरे यह कि यथासम्भव हमारे पाठ्य ग्रंथों के लिये सामग्री भी उनमें प्रतिपादित विषय संबंधी प्राचीन ग्रंथों से ही ली जाय। यद्यपि ज्ञान में स्वदेशी और विदेशी का कोई भेद नहीं, तथापि जो चीज़ अपने यहाँ मौजूद है, उसको दूसरों के यहाँ से उधार लेना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त का दुरुपयोग है। इसके अतिरिक्त ज्ञान पर किसी देश या जाति का विशेष स्वत्व नहीं। सभी जातियों के लोगों ने प्रायः सभी विषयों में कुछ न कुछ विचार किया है; और सभी जातियों ने एक दूसरी के विचारों से लाभ उठाया है। ज्ञान की वृद्धि में सहकारिता की आवश्यकता है। अपने देश के प्राचीन विचारों का किसी ग्रंथ में समावेश करना केवल जातीयता की 'संकुचित दृष्टि' से ही श्रेय नहीं, वरन् ज्ञान वृद्धि की उदार दृष्टि से भी अत्यन्त आवश्यक है। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि नए ज्ञान और नए आविष्कारों से लाभ न उठाया जाय। किन्तु हमारा कथन यह है कि

नए में पुरानें का यथेष्ट रूप से समावेश करके नए को भी अपना बना लिया जाय। यदि हमको बाहर के सिद्धांत लेने पड़ें, तो उन सिद्धान्तों को सिद्ध करनेवाले उदाहरण अपने देश की घटनाओं से ही चुने जायँ; तभी वे हमारे देश के लोगों के लिये उपयोगी हो सकते हैं। उदार दृष्टि का यही अर्थ है कि देशी और विदेशी दोनों ग्रंथों से उपयोगी सामग्री चुनी जाय। प्राचीन ग्रंथों से लाभ न उठाना आत्म-हत्या और नवीन ज्ञान का तिरस्कार करना वृथाभिमान तथा अनौदार्य्य प्रकट करना है। यही आदर्श सामने रखकर प्रस्तुत ग्रंथ लिखा गया है। तर्क शास्त्र के लिये सामग्री का अभाव नहीं *। यदि अभाव है, तो उसके जाननेवालों और उपयोग करनेवालों का। यदि इस पुस्तक में भारतीय तर्क ग्रंथों से यथोचित लाभ नहीं उठाया जा सका है, तो इसका कारण उनका अभाव और अपूर्णता नहीं, वरन् लेखक का आलस्य और उसके संस्कृत भाषा-ज्ञान की अपर्य्याप्ति है। 'अकरणात् मन्दकरणं श्रेयः' वाले सिद्धांत का सहारा लेते हुए मैंने अपनी यह पुस्तक हिंदी संसार के सामने रखने का साहस किया है।

यह ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। पहले भागो में निगमनात्मक तर्क (Deductive Logic) के सिद्धांत दिए गए हैं; दूसरे भाग में कुछ उसके और कुछ आगमनात्मक तर्क (Inductive

---

* भारतीय तर्क ग्रंथों की नामावली इस पुस्तक के तीसरे खंड में दी जायगी।

Logic); के और तीसरे भाग में भारतीय तर्क शास्त्र के सिद्धांत हैं। यद्यपि युरोप की पद्धति के अनुसार तर्क सिद्धांतों का वर्णन करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय तर्क सिद्धांतों का भी स्थान स्थान पर समावेश कर दिया गया है, तथापि यह आवश्यक समझा गया है कि भारतीय तर्क शास्त्र के मूल सिद्धांतों का एक स्थान में क्रमानुसार वर्णन कर दिया जाय। इन सिद्धांतों का वर्णन करने में जैन और बौद्ध तार्किकों के भी विचार दिए गए हैं। जैन और बौद्ध न्याय के विषय में जो कुछ मैंने लिखा है, उसका अधिकांश श्रीयुत स्वर्गीय महा महोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम० ए० पी-एच० डी० के "भारतीय तर्क का इतिहास" नामक ग्रंथ से लिया है। उसके लिये मैं उक्त आचार्य्य का अनुगृहीत हूँ। जिन अंग्रेजी ग्रंथों * से सहायता ली गई है, उनके लेखकों का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ। अपने उन आचार्य्यों—प्रोफेसर जे० बी० राजू (J. B. Raju), स्वर्गीय टी० डबल्यू० मलीगन (T. B. Mulligan) और ईरिक ड्यू (Eric Dew)—के प्रति, जिनसे मैंने युरोपीय तर्क शास्त्र पढ़ा है और वैश्य बोर्डिङ्ग हाऊस और

---

* उन ग्रन्थों में मुख्य ये हैं—Introductory Text-Book of Logic by Sydney Herbert Mellone. An Introductory Logic by James Edwin Creighton. Intermediate Logic by J. Welton. An Introduction to Logic by Joseph.

सेन्ट जॉन्स कालिज के उन विद्यार्थियों के प्रति, जिनको यह विषय पढ़ाने से मेरी इस विषय में रुचि बढ़ी, कृतज्ञता प्रकाशित किए बिना नहीं रह सकता। भारतीय तर्क शास्त्र के विषय में जो मेरी जानकारी बढ़ी, उसके लिये मैं पूज्य-पाद श्री गोस्वामी दामोदरलालजी का विशेष आभारी हूँ। इन महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ मैं यह पुस्तक अपने उदार पाठकों के हाथ में देता हूँ। आशा है कि वे इसे अपनावेंगे।

छतरपुर,
श्रावण शुक्ला सप्तमी,
संवत् १९८१.

गुलाबराय।

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

तर्क शास्त्र



पहला अध्याय

तर्क शास्त्र का विषय और उसकी उपयोगिता

इस संसार में मनुष्य की प्रधानता किस कारण से है, इसका उत्तर हमको 'मनुष्य' शब्द के अर्थ पर विचार करने से मिल जाता है। मनुष्य शब्द मन धातु से, जिसका अर्थ चिंतन वा विचार करने का है, बना है। मनुष्य विचारशील है। विचार ही के कारण मनुष्य ईश्वर से तादात्म्य रखने का साहस करता है। विचार ही मनुष्य का सारे जगत् से संबंध स्थापित करता है। विचार के ही द्वारा मनुष्य संसार को हस्तामलक बनाकर उससे नाना प्रकार के लाभ उठाता है। ज्ञान द्वारा ही मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक हित साधन करता है। अपने हित के संपादन तथा अपनी जिज्ञासा की तृप्ति के अर्थ वह नाना प्रकार के शास्त्र और विज्ञान रचकर खड़े कर देता है।

परिभाषा

जो शक्ति लौकिक और पारलौकिक ज्ञान को नियम और श्रृंखला में बाँध लेती है, वही शक्ति अपने को भी उसी शासन में रखकर अपनी क्रियाओं के नियम निर्धारित करती है। तर्क शास्त्र आत्म-विवेचनी क्रिया का फल है। तर्क-शास्त्र वह शास्त्र वा विज्ञान है जिसके द्वारा यथार्थ विचार के नियम स्थिर किए जाते हैं *।

यूनान की भाँति भारतवर्ष में भी तर्क शास्त्र की उत्पत्ति धार्मिक विवेचना और वाद विवाद से हुई है। जब लोग वाद विवाद करते थे, तब उनको वाद विवाद के नियमों को भी स्थापित करना आवश्यक समझ पड़ा। वाद विवाद के नियमों पर विचार करते समय विचार के साधारण नियमों का भी विचार हो गया। उपनिषदों में ऐसे

शास्त्र का उदय

---

* तर्क शास्त्र की परिभाषा देना बहुत कठिन है। तार्किक लोगों ने अपनी अपनी दृष्टि के भेद से इस शास्त्र की भिन्न भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। उनमें किसी ने शास्त्र दृष्टि को प्रधानता दी है, किसी ने कला दृष्टि को; कुछ परिभाषाओं का सार आकार वाद की ओर झुका होता है और कुछ का भाव तर्क शास्त्र को वस्तु वाद की ओर घसीट ले जाता है।

तर्क शास्त्र की कुछ प्रचलित परिभाषाएँ नीचे दी जाती हैं—

(1) Logic is the Science of right thinking.

(2) Logic is the Science of the regulative principles of human knowledge.

(3) Logic is the Science of the laws of thought as thought.

वाद विवादों का वर्णन आता है जिनमें जीतनेवालों को बहुत सी गौएँ और धन उपहार में दिया जाता था। जनक महाराज का दरबार इस बात के लिये प्रख्यात ही था। ऐसी सभाओं को समिति, संसद या परिषद् नाम से पुकारते थे। ऐसे धार्मिक वाद विवाद वा आध्यात्मिक विषयों की विवेचना होते हुए भारतवर्ष में यह बात कोई असंभव न थी कि विचार के नियमों की विवेचना की जाय *। तर्क शास्त्र को प्राचीन काल में तर्क विद्या, आन्वीक्षिकी विद्या अथवा न्याय विद्या के नाम से पुकारते थे। आन्वीक्षिकी विद्या चार मुख्य विद्याओं में से गिनी गई है—"आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्ड नीतिश्च शाश्वती"। इस विद्या का उल्लेख धर्म सूत्र, स्मृति, पुराणादि सभी ग्रंथों में आदर के साथ किया गया है। राजाओं के धर्म बतलाते हुए मनु महाराज ने राजा को आन्वीक्षिकी विद्या पढ़ने का आदेश किया है †। न्याय शब्द उपनिषदों में भी आदर के साथ आया है ‡। न्याय चौदह विद्याओं में माना गया है—"अङ्गानि चतुरो वेदा मीमांसा न्याय निस्तरः। पुराणं धर्म शास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ —विष्णु पुराण।

---

* उपनिषदों में तर्क, अनुमान, युक्ति, प्रत्यय, ऐतिह्य आदि पारिभाषिक शब्द आते हैं।

† त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्याद् दण्ड नीतिञ्च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीञ्चात्म विद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ मनुः ७।४३.

‡ पुराणं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि—आत्मोपनिषद द्वितीय खंडे।

व्यास जी का कथन है कि उन्होंने इसी विद्या के सहारे उपनिषदों का विभाग किया है*। मत्स्य पुराण के अनुसार न्याय विद्या वेदों के साथ स्वयं भगवान के ही मुख से निकली है†। अस्तु; जो हो, प्राचीन भारतवर्ष में इस विद्या ने खूब प्रचार पाया था और इसका आदर भी अच्छा था। संस्कृत में आन्वीक्षिकी विद्या की व्याख्या इस प्रकार की जाती है—

अनु पश्चात् श्रवणोत्तरम् ईक्षा ज्ञानं अर्थात् मननम्, अन्वीक्षा (श्रोतव्यो मन्तव्यः इत्युक्तेः) अन्वीक्षा। अन्वीक्षा प्रयोजनं यस्याः विद्यायाः सा अन्वीक्षिकी; अर्थात् श्रवणोत्तर मननं अन्वीक्षा।

अन्वीक्षा या मनन जिस विद्या का प्रयोजन है, वह आन्वीक्षिकी है‡। आन्वीक्षिकी वा तर्क का विषय मनन है। न्याय की इस प्रकार परिभाषा की गई है—नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थ सिद्धिरनेनेति न्यायः। और भी—निर्णीयतेऽनेनेति न्यायः। वात्स्यायन भाष्य में इस प्रकार परिभाषा दी है—प्रमाणैरर्थ-

---

* तत्रोपनिषदं तात परिशेषं तु पार्थिव।
मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम्॥ महाभारत॥

† अनंतरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिस्सृताः।
मीमांसा न्याय विद्या च प्रमाणाष्टकसंयुता॥ मत्स्य पुराण॥

‡ बहुत काल तक आन्वीक्षिकी में आत्मविद्या (दर्शन) और तर्कविद्या (Metaphysics and Logic) मिली रही; फिर क्रमशः तर्क विद्या स्वतन्त्र होती गई। नव्य न्याय में प्रमेय को छोड़कर प्रमाण पर ही विशेष ध्यान दिया गया है।

परीक्षणं न्यायः। संक्षेप में जिस विद्या द्वारा परीक्षा वा निर्णय किया जा सके, वही न्याय है। यद्यपि तर्कशास्त्र के सिद्धांत बहुत से ग्रंथों में पाए जाते हैं, तथापि तर्क शास्त्र का सुव्यवस्थित विवेचन सब से पहले न्याय और वैशेषिक दर्शन में ही किया गया है।

तर्क शास्त्र का विकास

गौतम ही भारतवर्ष में तर्क शास्त्र के प्रधान आचार्य समझे गए हैं। इससे यह अभिप्राय नहीं कि इनके पूर्व इस विद्या का अभाव ही था, किंतु यह कि इस विद्या को सुव्यवस्थित रूप देनेवालों में यह मुख्य और प्रथम आचार्य हैं। वैशेषिक दर्शन में तर्क शास्त्र के बहुत से सिद्धांत वर्तमान हैं। तर्कसंग्रह, तर्कामृत, तार्किक रक्षा, भाषा-परिच्छेद आदि जो नवीन तर्क ग्रंथ हैं, वे न्याय और वैशेषिक दोनों के ही आधार पर लिखे गए हैं।

गौतम के न्याय सूत्र ई० पूर्व ५५० के लिखे हुए माने जाते हैं। वात्स्यायन भाष्य जो कि न्याय सूत्रों पर सब से पहिला भाष्य है, ४५० ई० पश्चात् लिखा गया बताया जाता है। भारतवर्ष में गौतम के न्याय की जो टीका-टिप्पणियाँ* हुई हैं, उनमें तर्क शास्त्र क्रमशः उन्नति पाता गया है। श्रीयुत डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण ने अपने भारतीय तर्क शास्त्र के इतिहास (History of Indian Logic) में भारतीय तर्क शास्त्र के तीन विभाग किए हैं। प्राचीन काल ई० पूर्व ६००

* पुस्तक के द्वितीय खंड में इनकी नामावली दी गई है।

वर्ष से ४०० ईसा पश्चात् तक माना जाता है। इस काल में गौतम और उनके अनुयायियों की प्रधानता रही। माध्यमिक काल ४०० ईसा पश्चात् से १२०० ईसा पश्चात् तक है। इस काल में जैन और बौद्ध तार्किकों की प्रधानता रही। जैनों में सिद्धसेन दिवाकर कृत न्यायावतार तर्क शास्त्र पर सुव्यवस्थित रीति से लिखी हुई पुस्तकों में पहली पुस्तक है। बौद्धों में दिङ्नाग तर्क शास्त्र के प्रधान आचार्य कहे जाते हैं। इनका काल ईसा के ५०० वर्ष वाद माना गया है। इनके पूर्व भी कई आचार्य हुए; लेकिन इन्हीं को हम बौद्ध तर्क शास्त्र का जन्म-दाता मान सकते हैं। जैनों और बौद्धों में तर्क शास्त्र अध्यात्म विद्या से वहुत स्वतंत्र रहा।

अर्वाचीन काल १२०० से प्रारंभ हुआ है और चला जा रहा है। अर्वाचीन तर्क के कर्ता तत्व-चिंतामणि के लेखक गङ्गेश उपाध्याय माने गए हैं। १८५० ईसवी तक यह प्रवाह अच्छी तरह चलता रहा; उसके वाद स्थगित हो गया। यह तो नहीं कहा जा सकता कि १८५० के अनंतर न्याय शास्त्र पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया, किंतु इतना अवश्य है कि जो ग्रंथ लिखे गए, उनसे न्याय शास्त्र के पूर्वार्जित ज्ञान में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई। अर्वाचीन काल में तर्क शास्त्र तत्व ज्ञान से स्वतंत्र हो गया और इस काल के तर्क में वैशेषिक दर्शन के तर्क संबंधी सिद्धान्तों का समावेश हो गया। युरोपीय तर्क शास्त्र के भी इसी तरह तीन काल माने गए हैं।

युरोप में तर्क शास्त्र के जन्मदाता अरस्तू (एरिस्टोटिल) समझे जाते हैं। इन्होंने तर्क विद्या को विज्ञान का रूप दिया है। अरस्तू के पहले सुकरात ने अपने प्रश्नों द्वारा लोगों की अल्पज्ञता प्रकट कर उनको शब्दों की निश्चित परिभाषा करना बतलाया था। सुकरात के समय में विवाद करनेवालों का एक दल बन गया था जो कि सोफिस्ट्स (Sophists) के नाम से प्रख्यात था। वास्तव में सोफिस्ट लोग सत्य की खोज नहीं करते थे, वरन् एक दूसरे को वाद में पराजित करना ही इनका मुख्य धर्म था। यह लोग वितंडा और जल्प का अधिक प्रयोग करते थे। इन लोगों के हाथ में ज्ञान की सीमा अस्थिर हो गई थी। सुकरात ने अपने प्रश्नों द्वारा इन लोगों की अल्पज्ञ-ता प्रकट करके लक्षणों द्वारा ठीक अर्थ निश्चित किए हुए शब्दों का प्रयोग करने की आवश्यकता बतलाई। यहीं से तर्क शास्त्र की नींव पड़ी। सोफिस्ट लोगों का कार्य बिलकुल निष्फल न था। उनके वाद-विवादों के कारण यूनानी लोगों में विचार शक्ति उत्तेजित रही; और उन लोगों ने यूरोपीय शास्त्रों की जो नींव डाली, वह एक प्रकार से इसी वाद-विवाद का फल है। विचारों और सिद्धान्तों को सुरक्षित रखने में न्याय शास्त्र ने भी जल्प और वितंडा की उपयोगिता मानी है*।

प्राचीन काल

---

* तत्वाध्यवसाय संरक्षणार्थं जल्प वितंडे बीज प्ररोह संरक्षणार्थं कंटक शाखा वरणवत् ॥ ४ । २ । ५० ॥ अर्थात् जैसे बीजांकुर की रक्षा के लिये सब ओर से

यूनान में तर्क के सिद्धांत चाहे जब से वर्त्तमान हों, किंतु उन सिद्धांतों को शास्त्र का रूप पहले पहल अरस्तू * ही ने दिया है।

पुनरुत्थान (Renaissance) के समय शब्द-प्रमाण को छोड़कर लोगों का झुकाव प्रत्यक्ष की ओर हो गया। प्रत्यक्ष की प्रधानता स्थापित करने का आन्दोलन फ्रांसिस बेकन (१५६१–१६२६) से हुआ। रोजर बेकन् (१२१४–१२६४) ने इस आन्दोलन का सूत्रपात किया था; किंतु आगमनात्मक अनुमान (Inductive Logic) के जन्मदाता होने का श्रेय फ्रांसिस बेकन ही को मिला।

जे. एस. मिल (१८०६–१८७२) बेकन के ही अनुयायी हैं। इनको यदि आगमनात्मक तर्क के प्रथम आचार्य कहें तो अनुचित न होगा। बेकन ने यह सिद्धांत निश्चित कर

काँटेदार शाखाएँ लगा दी जाती हैं, वैसे ही सत्य के निर्णय में रुचि बनाए रखने के लिये जल्प और वितंडा को काम में लाते हैं।

* अरस्तू (Aristotle) सिकन्दर (Alexander) का गुरु था। इसी के आधार पर बहुत से लोगों ने ऐसी कल्पनाएँ की हैं कि तर्क शास्त्र यूनान से भारतवर्ष में आया वा भारतवर्ष से सिकंदर द्वारा तर्क-विद्या यूनान में गई। यह दोनों ही कल्पनाएँ मिथ्या ज्ञात होती हैं। दोनों ही देशों में स्वतंत्र रीति से तर्क विद्या की उत्पत्ति हुई है। भारतवर्ष में तो सिकंदर के बहुत काल पूर्व तर्क विद्या का प्रचार था। यूनान में भी तर्क विद्या का जन्म अरस्तू से पहले हो गया था। दोनों देशों की पद्धति में जो थोड़ा बहुत अंतर है, वह भी इस बात का प्रमाण है कि दोनों देशों में इस शास्त्र की उन्नति स्वतंत्र रीति से हुई। न्यायकर्ता गौतम का जन्म अरस्तू से कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व हो चुका था।

दिया था कि हमारे सिद्धांतों की वास्तविक घटनाओं से अनुकूलता होनी चाहिए। मिल ने इस अनुकूलता की जाँच के नियम निश्चित कर दिए। माध्यमिक काल में वास्तविक घटनाओं को शब्द-प्रमाण के आधार पर निर्धारित सिद्धांतों को अनुकूलता ढूँढ़नी पड़ती थी। उसके पश्चात् सिद्धांतों की जाँच वास्तविक घटनाओं के आधार पर होने लगी। प्राचीन काल के और विशेष कर माध्यमिक काल के तार्किक केवल आकारिक अथवा ऊपरी संवद्धता (Formal Consistency) ढूँढ़ते थे। निगमन (Conclusion) चाहे वास्तव में गलत हो, किंतु यदि उसके प्राप्त करने की पद्धति ठीक हो, तो वह भी ठीक है। जिस आधार से निगमन निकाला जाता था, उसकी कोई खोज नहीं करते थे। वेकन के पश्चात् उस आधार को सत्यता की भी खोज होने लगी। भारतवर्ष के न्याय ने वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ा। अनुमान का आधार उदाहरणों द्वारा निश्चित कर लिया जाता था। खेद है कि अब भारतीय तर्क शास्त्र की उन्नति स्थगित हो गई है। भारतीय तर्क शास्त्र की भाँति युरोपीय तर्क शास्त्र की उन्नति वंद नहीं हो गई है। यूरोप में आज तक तर्क शास्त्र की उन्नति हो रही है। प्राचीन और माध्यमिक काल के आकार वाद (Formalism) की भूल बतलाते हुए स्वयं उन भूलों से बचने का यत्न किया जाता है। इसके साथ साथ आज कल के कुछ लोगों (शिलर प्रभृति) ने तर्क शास्त्र को निरपेक्ष न मान-

कर उसका संबंध मनुष्य की आवश्यकताओं से कर दिया है। इस अंश में तर्क शास्त्र का संबध मनोविज्ञान एवं वास्तविक ससार से बहुत बढ़ता जाता है।

तर्क शास्त्र विचारों के नियमों का विज्ञान है; और ऐसा कोई शास्त्र नहीं जिसका विचार से संबंध न हो। शास्त्र तो ज्ञान ही है। फिर उसका विचार से पार्थक्य किस प्रकार हो सकता है? तर्क शास्त्र का इस रीति से सभी विद्याओं और शास्त्रों के साथ संबंध है। तर्क शास्त्र के नियम सभी शास्त्रों में घटते हैं। सभी शास्त्र तर्क शास्त्र के उदाहरण रूप हैं। इसी कारण तर्क शास्त्र को सब शास्त्रों का शास्त्र *(Science of Sciences) कहा है। स्वयं तर्क शास्त्र में भी तर्क शास्त्र के नियम लगते हैं। इस साधारण संबंध के अतिरिक्त तर्क शास्त्र का कुछ शास्त्रों से विशेष संबंध है। मनोविज्ञान और तर्क का विशेष संबंध है। मनोविज्ञान और तर्क शास्त्र दोनों ही का विषय विचार है; किन्तु दोनों शास्त्रों के विस्तार और दृष्टि में भेद है। मनोविज्ञान विचार के अतिरिक्त मन की और भी क्रियाओं की विवेचना करता है। इस हिसाब से तर्क शास्त्र का क्षेत्र संकुचित है। किंतु दूसरी रीति से तर्क शास्त्र के विस्तार में और शास्त्रों के साथ मनोविज्ञान भी आ जाता है। मनोविज्ञान

तर्क शास्त्र का अन्य विद्याओं स संबंध

---

* प्रदीपः सर्व विद्यानामुपायः सर्व कर्मणाम्।
आश्रयः सर्व धर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तितः॥

विचारों के संबंध में वैसे ही विवेचना करता है, जैसे रसायन शास्त्र भौतिक तत्वों को करता है। मनोविज्ञान शुद्ध वा वर्णनात्मक विज्ञान (Positive Science) है और तर्क शास्त्र आदर्श-निर्धारक विज्ञान (Normative Science) है। मनोविज्ञान को भले-बुरे, गलत-सही विचारों से कुछ संबंध नहीं। तर्क शास्त्र के लिये सत्य और झूठ का भेद मुख्य है। तर्क शास्त्र में सत्य विचारों का आदर्श मिलता है। तर्क शास्त्र की गणना कर्तव्य शास्त्र और व्याकरण के साथ आदर्श-निर्धारक विज्ञानों में होती है। मनोविज्ञान को रसायन शास्त्र, गणित शास्त्र और भूगर्भ विद्या के साथ शुद्ध वा वर्णनात्मक विज्ञान में स्थान मिलता है। मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र में और भी भेद हैं। मनोविज्ञान विचार को व्यक्ति के संबंध में देखता है और तर्क शास्त्र विचार के संबंध में निरपेक्ष रीति से विचार करता है। मनोविज्ञान विचार की उत्पत्ति की विवेचना करता है; तर्क शास्त्र बने बनाए विचारों की जाँच करता है और उस जाँच के नियम निश्चित करता है। तर्क शास्त्र का व्याकरण और अलङ्कार ग्रंथों से भी बहुत संबंध है। विचार और भाषा का अटूट संबंध होने के कारण तर्क शास्त्र का व्याकरण और रीति-ग्रंथों से संबंध होना स्वाभाविक है। तर्क शास्त्र और व्याकरण में इतना ही भेद है कि तर्क शास्त्र का मूल विषय विचार है; किंतु विचार बिना भाषा के प्रकट नहीं हो सकते, इसलिये गौण रीति से तर्क शास्त्र का भाषा से भी संबंध है। व्याकरण का मुख्य

विषय भाषा है; किंतु भाषा का संघटन विचारों के संघटन पर निर्भर है; इसलिये व्याकरण की अपेक्षा अलंकार ग्रन्थों को विचार से अधिक काम पड़ता है; इसलिये अलंकार ग्रंथों का तर्क शास्त्र से निकटतर संबंध है। यूनान में तो अलंकार विद्या तर्क शास्त्र की जननी समझी गई है। तर्क शास्त्र और अलंकार विद्या दोनों ही का काम दूसरों को समझाना है। तर्क शास्त्र विचारों का विश्लेषण करके उनको ऐसी रीति से रखता है कि जिससे हर एक आदमी उसें समझ ले; और यदि उसमें कुछ भूल हो, तो वह भी तुरंत प्रकट हो जाय। रीति और अलंकार के ग्रंथ भाषा और विचारों को इस रीति से दूसरों के सामने रखना सिखाते हैं कि सुननेवालों पर अधिक से अधिक प्रभाव पड़े। अलंकार शास्त्र सत्य को प्रिय और ग्राह्य बनाने का यत्न करता है। सत्य कभी अलंकार शास्त्र की मुख्य खोज नहीं है; रोचकता ही अलंकार ग्रंथों का मुख्य उद्देश्य है। सत्य को रोचक बनाकर "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्" के आदेश को पूरा करने में अलंकार ग्रंथ तर्क शास्त्र के सहायक होते हैं। तर्क शास्त्र के विषय में जो उपहास और अपवाद किया जाता है, उसका कारण तर्क और अलंकार ग्रंथों का यह निकट संबंध ही है। अलंकार द्वारा कभी कभी झूठ को भी ऐसी रोचकता प्राप्त हो जाती है कि उसको लोग बिना विवेचना किए ग्रहण कर लेते हैं। जो लोग यह समझते हैं कि सच का झूठ करना और झूठ का सत्य कर दिखाना—सफेद को स्याह और स्याह

को सफेद कर देना—तर्क शास्त्र का काम है, वे लोग तर्क शास्त्र और अलंकार शास्त्र में भेद करते हुए नहीं मालूम होते। वे अलंकार ग्रंथों का दोष तर्क शास्त्र के मत्थे मढ़ते हैं।

विचार और भाषा

ऊपर के संवंध का विचार करते हुए हमको विचार और भाषा के संवंध की भी थोड़ी बहुत आलोचना करना आवश्यक है। विचारों को प्रकाशित करने के लिये तो भाषा की आवश्यकता है ही, किंतु विचारों की स्थिति, पुष्टि और स्पष्टता के लिये भी उसकी आवश्यकता है। यह बात स-विवाद है कि विचार विना भाषा के रह सकते हैं या नहीं। कुछ लोगों का मत तो यह है कि विचार भिन्न हैं और वे समाज में प्रकट होते समय भाषा का वेश धारण कर लेते हैं। इस मत की पुष्टि में अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं। उनमें से कुछ ये हैं—(१) एक ही विचार को लोग कई भाषाओं में प्रकट करते हैं। (२) वालक वात को समझ लेते हैं, किंतु उसे भाषा में प्रकट नहीं कर सकते। बड़े आदमी भी जब अपने विचारों को प्रकट करने के लिये नए शब्दों की खोज करते हैं, तब भाषा और विचार के पार्थक्य का अनुभव करने लगते हैं। (३) भाषाविज्ञान से यह भी मालूम होता है कि शब्दों का अर्थ वदलता रहता है, और वहुत सी नई आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये पीछे से शब्द गढ़ने पड़ते हैं। पहले नए पदार्थों और नई कल्पनाओं का आविष्कार हो जाता है; फिर पीछे से उनके लिये भाषा में उचित शब्द ढूँढे जाते

हैं *। यदि हम इन युक्तियों पर विचार करें, तो ये भ्रमयुक्त सिद्ध होंगी। यह बात ठीक है कि हम एक ही विचार को कई भाषाओं में प्रकट कर सकते हैं, किंतु क्या भाषा के बदलने से भाव नहीं बदलते? अनुवाद करनेवालों को कठिनाइयों का जो अनुभव करना पड़ता है, वह इस बात का प्रमाण है कि भाषा को विचार से अलग करना कितना कठिन है। और बाकी सब युक्तियाँ भाषा के संकुचित अर्थ पर निर्भर हैं। यदि भाषा को केवल बोल चाल की अथवा लिखने पढ़ने की गढ़ी गढ़ाई भाषा में संकुचित कर दें, तो अवश्य ऊपर की युक्तियाँ ठीक हैं। किंतु भाषा में सभी प्रकार की भाषा सम्मिलित है †। संकेत भी एक प्रकार की भाषा है ‡। बच्चों की आकृति या हाथ पैर की चेष्टाएँ सभी भाषा हैं। यदि बच्चों और जानवरों के पास भाषा नहीं, तो वास्तव में उनके मन में विचार भी नहीं होते। भाषा और शब्दों के स्थान में उनके मानसिक चित्र ही विचार और भाषा का काम करते हैं। बालकों में विचार

* जो सज्जन इस विषय में अधिक जानना चाहते हों, वे जैमिनि सूत्र, प्रथम पाद, अधिकरण, ६ सूत्र ६—२३ देखें।

न्यायशास्त्र में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं माना है, वरन् सामयिक अर्थात् सांकेतिक माना है—सामयिकः शब्दार्थ सप्रत्ययो न स्वाभाविकः। वात्स्यायन भाष्य।

† हमारे यहाँ चार प्रकार की भाषा मानी गई है—परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी।

‡ विचार-द्योतन कई प्रकार से होता है; यथा "आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च" अन्यथा "अनुक्तमप्यूहति पंडितो जनः परेंगित ज्ञानफलाहि बुद्धयः" का कैसे समर्थन हो सकता है!

और भाषा का उदय प्रायः साथ ही साथ होता है। उन लोगों में शब्द का ज्ञान पहले हो जाता है, उसके पश्चात् विचार स्पष्ट होता जाता है। केवल शब्द-ज्ञान से बच्चे भी संतुष्ट नहीं रहते। वह तुरंत पूछने लगते हैं कि अमुक शब्द का क्या अर्थ है।

नई आवश्यकताएँ, नवीन विचार, नूतन आविष्कार सभी किसी न किसी भाषा के द्वारा प्रकट होते हैं। बिना भाषा की सहायता के उनका जन्म ही असंभव था; और जब तक उनके लिये उचित भाषा न मिल जाय, तब तक स्वयं विचार-कर्त्ता के मन में विचार स्पष्ट नहीं हो सकते। नए शब्दों की खोज और टटोल की पीड़ा प्रसव-वेदना की भाँति है। वह वेदना नए जन्म की सूचक होती है। पुराने शरीर में से नए शरीर का जन्म होता है। भाषा और विचार का संबंध अटूट है। भाषा विचारों की पोशाक नहीं, वरन् शरीर है। विचार के साथ ही भाषा का जन्म हो जाता है। मीमांसकों ने भाषा और विचार का संबंध नित्य माना है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में शिव और पार्वती की वंदना करते हुए वाणी और अर्थ का अटूट संबंध बताया है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वंदे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥*

---

* अर्थ—शब्द और अर्थ के सम्यक् ज्ञान के लिये शब्दार्थ की तरह नित्य संबंध रखनेवाले जगत् के माता-पिता शिव और पार्वती को नमस्कार करता हूँ।

मीमांसा शास्त्र में शब्द को नित्य माना है और अर्थ के साथ शब्द का संबंध भी नित्य माना है*। महात्मा तुलसीदास जी ने शब्द और अर्थ का संबंध नीचे के दोहे में बहुत अच्छी तरह से दिखाया है—

गिरा अर्थ जल वीचि सम, देखियत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीताराम पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥

भाषा विचार की मूर्त्ति है। जिस प्रकार हम मनुष्य के मन की बातों का उसकी चेष्टा और आकृति से अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार भाषा द्वारा हम को विचार का तत्व अवगत हो जाता है। इसी लिये तर्क शास्त्र के ग्रंथों में भाषा पर इतना विचार किया जाता है। इसका यह प्रयोजन है कि भाषा की अशुद्धि वा अस्थिरता से विचार में भी अशुद्धि न आ जाय। तर्क शास्त्र का सम्बन्ध भाषा में "विचार" वा "वस्तु" किससे है ? इसी संबंध में यह भी विचार कर लेना आवश्यक है कि तर्क शास्त्र का विषय विचार है, वा भाषा है वा वस्तु है। तर्क शास्त्र की परिभाषा से ही स्पष्ट है कि तर्क शास्त्र का संबंध मुख्यतः विचार ही से है। अब यह देखना है कि भाषा और वस्तु से कहाँ तक सम्बन्ध है। भाषा और विचार का नित्य सम्बन्ध तो ऊपर दिखा ही दिया गया है। यदि तर्कशास्त्र का विषय विचार है, तो उसी के साथ भाषा भी इसका विषय बन जाती है, किन्तु इसके साथ यह बात अवश्य

* औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सह संबंधः।

ध्यान देने योग्य है कि जिस दृष्टि से भाषा को व्याकरण और अलंकार देखते हैं, उस दृष्टि से तर्क शास्त्र नहीं देखता। व्याकरण के लिये भाषा ही मुख्य है, विचार गौण है। तर्क शास्त्र के साथ भाषा का उसी अंश तक संबंध है, जहाँ तक कि वह विचारों की व्यंजक समझी जाती है। व्याकरण के लिये भाषा ही प्रधान विषय है। तर्क शास्त्र भाषा को जीती जागती रीति में देखता है। व्याकरण भाषा का आकार मात्र देखता है। जो वात व्याकरण के लिये ठीक हो, उस वात का तर्क शास्त्र के लिये ठीक होना कोई आवश्यक नहीं। यत्र यत्र धूम स्तत्र तत्र वह्निः (जहाँ जहाँ धुआँ है, वहाँ वहाँ अग्नि है) अतः यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः (जहाँ जहाँ अग्नि, वहाँ वहाँ धुआँ) इस अनुमान में व्याकरण की कोई अशुद्धि नहीं। किंतु तर्क शास्त्र से यह अनुमान ठीक नहीं है और न यह अनुमान वस्तुतः ही ठीक है; क्योंकि ऐसे वहुत से स्थान हैं, जहाँ अग्नि है, परंतु धूआँ नहीं। उदाहरण—गरम लोहे का गोला, खूब अच्छा जलता हुआ कोयला। जिस प्रकार वैज्ञानिक लोग जीते जागते संस्थान का विश्लेषण करने में असमर्थ रहकर मरे हुए शरीर की ही काट छाँट करते रहते हैं, उसी प्रकार वैयाकरण भाषा को उसकी विचार रूपी आत्मा के संबंध में न देखकर केवल भाषा रूपी शरीर की विवेचना करते हैं। व्याकरण में भाषा का आकार ठीक होना चाहिए। आकार के ठीक रखने में थोड़े वहुत विचार की आवश्यकता अवश्य

है, किंतु वह विचार की शुद्धता के लिये नहीं, वरन् भाषा की शुद्धता के लिये होता है। तर्क शास्त्र भाषा और विचार दोनों ही को अपना विषय बनाता है, किंतु भाषा के संबंध में तर्क शास्त्र उसी अंश तक विचार करता है, जिस अंश तक भाषा विचारों का व्यंजन करनेवाली समझी जाती है। जिस प्रकार आध्यात्मिक शुद्धि के लिये शरीर शौच वाञ्छनीय है, उसी प्रकार तर्क शास्त्र के लिये भाषा की शुद्धि अभीष्ट है। जो लोग तर्क शास्त्र में वाक्यों के परस्पर संबंधों की ही विवेचना करते हैं, वे तर्क शास्त्र के मुख्य लक्ष्य से हटकर आकार-वाद की भूल में पड़ जाते हैं। अब यह प्रश्न बाक़ी रहा कि तर्क शास्त्र का विषय विचार है वा वस्तु ? अर्थात् तर्क शास्त्र व्याकरण की भाँति आकार संबंधी (Formal) अथवा वस्तु संबंधी (Material) विज्ञान है। इसके पूर्ण निर्णय के लिये हमको विचार और वस्तु के संबंध में प्रवेश करना होगा। यह विषय हमारी खोज से बाहर है। अस्तु; जो कुछ भी हो, हमको विचार और वस्तु में थोड़ा बहुत संबंध अवश्य मानना पड़ेगा। यद्यपि यह देखा गया है कि विचार का क्रम और वस्तु का क्रम सदा एक सा नहीं होता, तथापि हम संसार को ज्ञान और बुद्धि के आधार पर सधा हुआ मानते हैं। जो बात बुद्धि के प्रतिकूल है, उसकी वास्तविक सत्ता भी बहुत संशययुक्त हो जाती है। विचार केवल विचार के अर्थ नहीं होता, वरन् उसका वस्तु से भी संबंध रहता है। विचार ही से

हम संसार को समझकर संसार में व्यवहार चलाते हैं।

सांसारिक ज्ञान सांसारिक व्यवहार में काम आता है और पारमार्थिक ज्ञान पारमार्थिक व्यवहार में। ज्ञान व्यवसायात्मक है। ज्ञान का लक्ष्य ज्ञान से बाहर जाता है। ज्ञान में पदार्थों का जो संबंध होता है, उसी के आधार पर हम काम चलाते हैं। ज्ञान से हमारी क्रिया में सफलता होती है और क्रिया से हमारे ज्ञान की शुद्धि होती है। इसी प्रकार वास्तविक संबंधों के अनुकूल हमारा ज्ञान होता है और ज्ञान के अनुकूल वास्तविक संबंधों की जाँच होती है। यद्यपि यह ठीक है कि 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' तथापि हमको ज्ञान की प्रधानता मानते हुए यह भी कहना पड़ता है "असंभाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि दृश्यते"। ज्ञान के संबंधों में वास्तविक संबंधों का साम्य होना चाहिए। इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार विचार और भाषा को पृथक् करना कठिन है, उसी प्रकार विचार और वस्तु का भी विच्छेद करना असंभव है। इसलिये तर्क शास्त्र का विषय विचार, भाषा और वस्तु तीनों ही हैं। इसके साथ ही यह ध्यान रखना आवश्यक है कि तर्कशास्त्र का विषय मुख्यतः विचार से ही है। भाषा के विषय में तर्क शास्त्र की दृष्टि व्याकरण की सी नहीं है और न वस्तु के विषय में तर्क शास्त्र की खोज भौतिक विज्ञान की सी है। वैज्ञानिकों और दार्शनिकों की खोज में विचार की जो क्रिया होती रहती है, तर्क शास्त्र उस क्रिया के नियम निर्धारित करके उन नियमों

द्वारा नई खोज करने और गवेषणा के फल का यथार्थ मूल्य निर्धारित करने में सहायता देता है। तर्क शास्त्र का विषय मुख्यतः विचार है और गौणतः भाषा और वस्तु दोनों ही हैं।

ऊपर की आलोचना के पश्चात् हम दो बड़े प्रश्नों का उत्तर सहज में दे सकेंगे। पहला प्रश्न यह है कि तर्क शास्त्र विज्ञान है, अथवा कला? दूसरा प्रश्न यह है कि तर्क शास्त्र आकारसंबंधी (Formal Science) है, अथवा वस्तुसम्बन्धी विज्ञान (Material Science) है? पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए विज्ञान और कला का भेद बतला देना आवश्यक है। 'विशेषेण ज्ञानं विज्ञानं, किसी वस्तु के संबद्ध व सुव्यवस्थित ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। साधारण लोगों का ज्ञान भी ज्ञान है, किन्तु वह सुव्यवस्थित न होने के कारण विज्ञान नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक लोग अपने ज्ञान में संबंध स्थापित कर उसे सुव्यवस्थित रखते हैं। कला किसी काम के करने की रीति सिखाती है। कला का संबंध व्यवहार और क्रिया से है। बहुत सी कलाएँ तो केवल व्यवहारिक अनुभव पर निर्भर हैं। उनका आधार वैज्ञानिक सिद्धांतों में अवश्य है, किंतु उनका विज्ञान से सीधा संबंध नहीं है; अर्थात् उनके व्यवहार करनेवालों को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। और कुछ ऐसी कलाएँ भी होती हैं, जिनको हम वैज्ञानिक कलाएँ कहेंगे। उनका विज्ञान से सीधा संबंध रहता है। वे वैज्ञानिक

तर्क शास्त्र विज्ञान है अथवा कला

सिद्धांतों का प्रयोग बतलाती हैं। यह कलाओं का विभाग कोई निश्चित विभाग नहीं है। प्रायः पहली संज्ञा की कलाएँ दूसरी संज्ञा में आती रहती हैं, और दूसरी संज्ञा की पहली में। एक ही कला किसी पुरुष के लिये पहली संज्ञा में रहती है और जानकार पुरुष के लिये दूसरी संज्ञा में आ जाती है। भोजन पकाना एक कला है। जो मनुष्य वैज्ञानिक सिद्धांतों को नहीं जानते, उनके लिये यह कला पहली संज्ञा की है और वैज्ञानिक पंडित के लिये दूसरी संज्ञा की। इसी प्रकार चिकित्सा का हाल है। बहुत से लोग चिकित्सा वैज्ञानिक सिद्धांतों के जाने बिना, केवल अनुभव के आधार पर करते हैं। इनको अताई कहते हैं। जो लोग वैज्ञानिक सिद्धांतों को जानते हैं, उनके लिये वह कला वैज्ञानिक हो जाती है। एक कला में प्रायः कई विज्ञानों के ज्ञान की आवश्यकता होती है; और एक विज्ञान के आधार पर कई कलाएँ बन जाती हैं। प्रायः सभी ज्ञान का क्रिया में प्रयोग हो जाता है। जब ऐसा है, तो फिर तर्क शास्त्र संबंधी ज्ञान क्यों न काम में लाया जाय? इसी लिये तर्क शास्त्र विज्ञान और कला दोनों ही है। तर्क शास्त्र विचारों अथवा उनके मूल सिद्धांतों के नियम और व्यवस्थापूर्ण वर्णन से युक्त होने के कारण विज्ञान है; और जहाँ तक इस ज्ञान को काम में ला सकते हैं, उसी अंश तक तर्क शास्त्र कला है; किंतु इसका मुख्य रूप विज्ञान है। किसी कथन में तार्किक भूलों की खोज करना और उनको निकालकर दिखलाना अथवा उनसे स्वयं बचना, कला का

भाग है। किंतु जिन सिद्धांतों के आधार पर यथार्थ ज्ञान की परीक्षा की जाती है, उनकी खोज और विवेचना कर उनको निश्चित करना विज्ञान का भाग है।

आकार और वस्तु

कुछ लोगों का यह विचार है कि आकार और वस्तु दो पदार्थ हैं। आकार स्थायी रहता है और उसमें वस्तु बदलती रहती है। जेवन्स (Jevons) साहब ने इस बात को स्पष्ट करने के लिये साँचों की मिसाल दी है। एक ही प्रकार के साँचे में भिन्न भिन्न धातुओं के सिक्के ढाले जा सकते हैं। इसका तर्क संबंधी उदाहरण लीजिए। यदि दो वस्तुएँ किसी एक वस्तु के बराबर हों, तो दोनों वस्तुएँ आपस में बराबर होती हैं—वे वस्तुएँ चाहे टोपी हों, चाहे जूता, चाहे रुपए और चाहे कंकड़। यदि उनमें से दो वस्तुएँ किसी एक ही पदार्थ के बराबर होंगी, तो वे दोनों वस्तुएँ एक दूसरे के बराबर होंगी। इन भिन्न वस्तुओं के संबंध में जो अनुमान किया जाय, वह एक ही प्रकार का होगा। यह सिद्धांत देखने में जैसा सच्चा प्रतीत होता है, वास्तव में वैसा नहीं है। कोई सच्चा आकार वस्तु से खाली नहीं है और वस्तु बिना आकार के नहीं होती। क्या साँचे किसी पदार्थ के नहीं बने हुए होते? और क्या धातुओं का साँचे में पड़ने से पहले कोई आकार नहीं होता? हर एक विचार के साथ उसका आकार लगा हुआ है। इन आकारों की स्थिरता और वस्तु की भिन्नतावाले सिद्धांत ने

तर्क शास्त्र में विशेषकर यूरोपीय तर्क शास्त्र में बड़ा दोष उत्पन्न किया है जिससे कि आज कल के तर्क शास्त्री लज्जित से मालूम होते हैं। ये साँचे, सिद्धांतों के साँचे न रहे, शब्दों के साँचे बन गए। शब्दों की ही प्रधानता हो गई—विचार और वस्तु का ध्यान ही न रहा। एक स्थिर आकार में जो युक्ति आ जाय, वहीं प्रमाणित है और यदि वह किसी खींचतान से उस आकार में न आवे तो ठीक नहीं। इसे आकार संबंधी तर्क कहते हैं। यूरोपीय तर्क शास्त्र के आदि कर्त्ता अरस्तू (Aristotle) के ग्रंथों में जो आकारवाद था, सो था ही; उनके अनुयायियों ने उसको पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। अरब के तार्किक लोगों ने अरस्तू का अनुकरण करते हुए अपने यहाँ के तर्क शास्त्र (मन्तिक़) को भी आकार-संबंधी बना दिया। माध्यमिक काल की बात तो जहाँ की तहाँ रही, उन्नीसवीं शताब्दी के लोगों तक में आकारवाद ही माना जाता था। अभी हाल में जेवन्स (Jevons), बूल (Boole) आदि पंडितों ने तर्क को गणित के आधार पर रख उसे बिल्कुल ही आकार संबंधी विज्ञान बना डाला है। कुछ लोग यहाँ तक बढ़ गए कि उन्हों ने तर्क शास्त्र संबंधी कलें तक बना डालीं! तिब्बत के लोग प्रार्थनाएँ यंत्र (Prayer Wheel) द्वारा करते थे; इसमें तो कुछ आश्चर्य्य नहीं; आज कल के यूरोपीय लोगों ने तो विचार भी यंत्र द्वारा करने का साहस किया है। प्रायः लोग आज कल तर्क को आकार संबंधी नहीं मानते, उनका झुकाव

आकार वाद से हट गया है। शिलर (Schiller) साहब तो अपने तर्क शास्त्र से आकार संबंधी तर्क की धूल उड़ाने में वहुत ही वढ़ गए हैं। उनके अनुसार अरस्तू से लेकर अभी तक का परिश्रम निष्फल गया। ऊपर विचार, भाषा और वस्तु का परस्पर संवंध दिखाया जा चुका है। माना कि यह संवंध वहुत ही घनिष्ट है, किंतु वस्तु और विचार से अलग होकर केवल भाषा, दोनों की प्रतिनिधि नहीं हो सकती। आकारवाद ने यही भूल की है। यदि भाषा ही को मुख्य मान लिया जाय, तो "गगनारविन्दे सुरभिः अरविंदत्वात् सरोजारविंदवत्" (आकाश का कमल खुशवूदार है, क्योंकि वह कमल है; और सब कमल खुशवूदार होते हैं, अतः आकाश का कमल खुशवूदार है) वाली उक्ति में ही और न नीचे के ही श्लोक और सवैये में कुछ हानि होगी—

एष वंध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।
मृगतृष्णांभसि स्नातः शशश्रृङ्गधनुर्धरः॥

या "वाँझ कौ पूत विना अँखियान अमावस को निसि चंद्र निहारै"।

भारतीय तर्क शास्त्र आकार वाद की ओर नहीं झुका। इसी कारण यहाँ पर आकारों का इतना तारतम्य नहीं रचा गया। इस अभाव के कारण आकार वाद के कुछ पक्षपाती यूरोपीय तार्किकों ने भारतीय तर्क की निंदा भी की है। लेकिन हर्ष की वात है कि आजकल यूरोप के ही लोग आकारों के तारतम्य

को वृथा समझने लगे हैं। इससे यह अनुमान तो न करना चाहिए कि आकार संबंधी तर्क की कुछ उपयोगिता ही नहीं। आकार संबंधी तर्क से पुराने ज़माने के विद्यार्थियों का बहुत अच्छा मानसिक व्यायाम हो जाता था। इसके साथ यह बात भी नहीं कि आकार और वास्तविकता में इतना भेद हो कि कभी उनकी परस्पर अनुकूलता ही न हो सकती हो। जो कुछ झगड़ा है, वह कोरे आकारवाद के साथ है। आकार का बिल्कुल तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

इस अध्याय के अंत में तर्क शास्त्र की उपयोगिता पर विचार कर लेना आवश्यक है। कुछ लोगों का तो यह कहना है कि लोग बिना तर्क शास्त्र के यों ही भली भाँति विचार कर लेते हैं; फिर तर्क शास्त्र पढ़ने से ही क्या लाभ है? ठीक है, तर्क शास्त्र विचार के पश्चात् ही बना है। व्याकरण भी भाषा के पीछे ही बना है। विचार को देखकर ही विचार के नियम स्थिर किए जाते हैं। भाषा को देखकर व्याकरण बनाया जाता है। फिर इन ही तर्क और व्याकरण के नियमों द्वारा विचार और भाषा की शुद्धता वा अशुद्धता की परीक्षा हो जाती है। जो नियम वर्त्तमान को देखकर स्थिर किए जाते हैं, वे भविष्य में काम आते हैं। न्याय मंजरी में भी ऐसी शंका उठाई गई है—"नन्वक्षपादात् पूर्वं कुतोवेदप्रामाण्यनिश्चय आसीत्। अत्यल्पमिदमुच्यते। जैमिन पूर्वं केन पदानि व्युत्पादितानि।" मंजरी के कर्ता ने वेद की भाँति इन सब विद्याओं को अनादि माना है—"आदिसर्गात्

प्रभृति वेदवदिमाः विद्याः प्रवृत्ताः।" एक प्रकार से यह ठीक ही है; क्योंकि सब सिद्धांत अनादि हैं उनका वर्णन काल में है। अब प्रश्न यह है कि बहुत से लोग ऐसे हैं जिनको इन नियमों का कभी काम नहीं पड़ता। फिर क्या इन लोगों के कारण तर्क शास्त्र की खोज वृथा समझी जाय ? नहीं। जब तक लोग बीमार नहीं पड़ते, तब तक उनको डाक्टरों की आवश्यकता नहीं होती। क्या इस कारण डाक्टरों का अस्तित्व वृथा समझा जा सकता है? बीमार होने पर डाक्टर की आवश्यकता पड़ती ही है। इसी प्रकार जब लोग ग़लती करते हैं, तब उनको यह समझाने के लिये कि तुमने यहाँ पर ग़लती की है, तर्क शास्त्र की आवश्यकता है। लोग जान बूझकर भूल नहीं करते। परंतु जब बिना जाने ग़लती कर जाते हैं, तब उनको यह बतलाए बिना काम नहीं चलता कि उनके विचार उन नियमों के प्रतिकूल पड़ते हैं, जिनका कि ठीक होना वह स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि जो लोग इन नियमों को भली भाँति जानते हैं, वे दूसरों के भुलावे में नहीं आते और न स्वयं वैसी भूल करते हैं। मनुष्य की यही विशेषता है कि जिन नियमों का वह अपने जीवन में सदा पालन करता रहता है, उनको वह समझ लेता है और उनके द्वारा अपना हित संपादित करता है। विचारों के संशोधन में तर्क शास्त्र द्वारा जो सहायता मिलती है, उसके अतिरिक्त विचार के नियमों की खोज में जो मानसिक व्यायाम होता है और उन नियमों के ज्ञान से जिज्ञासा की जो

तृप्ति होती है, वह सब थोड़ा लाभ नहीं। जिनको तर्क विद्या की अच्छी शिक्षा मिलती है, वे उत्तमोत्तम ग्रंथों को भली भाँति समझ सकते हैं और उनकी युक्तियों का क्रम भी भले प्रकार मन में निश्चित कर सकते हैं। ऊपर एक श्लोक का उल्लेख किया जा चुका है जिसमें यह बतलाया गया है कि स्वयं वेद-व्यास जी ने उपनिषदों का क्रम और विभाग आन्वीक्षिकी विद्या की सहायता से ही किया था। इस प्रश्न के उत्तर में 'कला' के संबंध में जो विवेचना की गई थी, उसका दोहराना अनुपयोगी न होगा। यद्यपि बहुत सी कलाएँ अनुभवाश्रित हैं, तथापि उनके आधार-भूत वैज्ञानिक सिद्धांतों के जानने से उन कलाओं के प्रयोग में बहुत सुभीता होता है। जो लोग केवल अनुभव का आधार रखते हैं, वे कठिन परस्थिति में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं; और जो सिद्धांतों पर चलते हैं, वे अपने सिद्धांतों का स्थिति के अनुकूल प्रयोग कर सकते हैं। यद्यपि साधारण लोग भी तर्क में भूल निकाल सकते हैं, किन्तु तार्किक उस भूल को स्पष्ट कर देता है और वह शीघ्र धोखे में नहीं आता। उसे यह नहीं कहना पड़ता कि भाई, इसमें कुछ भूल ज़रूर है; लेकिन यह नहीं कह सकता कि क्या भूल है, कहाँ पर है और कैसे हुई। तार्किक भूल को तुरंत बतला देगा और यह भी कह देगा कि यह भूल विचार के अमुक नियम के उल्लंघन करने के कारण हुई।

न्याय शास्त्र में तर्क के ज्ञान से ही मोक्ष लिखा है। नीचे

के श्लोक में तर्क शास्त्र के लाभ भली भाँति बतलाए गए हैं:—

मोहं रुणद्धि विमलीकुरुते च बुद्धिं
सूते च संस्कृतपदव्यवहारशक्तिं।
शास्त्रान्तराभ्यसनयोग्यतां युनक्ति,
तर्कश्रमो न तनुते किमिहोपकारम् ।*

इतने गुण होते हुए भी कुछ लोगों का कहना है कि तर्क शास्त्र का पठनपाठन मनुष्य को नीरस और भावशून्य बना देता है। न उसको शृंगार और न काव्य में ही आनन्द आता है और न ईश्वर ही में भक्ति रहती है।

काव्य और शृंगार के विषय में नीचे का श्लोक प्रचलित है:—

कर्कशतर्कविचारव्यग्रः किं वेत्ति काव्य हृदयानि।
ग्राम्य इव कृषिविलग्नश्चञ्चलनयनावचोरहास्यानि ॥†

इसका उत्तर देनेवाला एक श्लोक प्रसन्न राघव में आया है, जिसका आशय यह है कि जिस प्रकार शूर वीर राजाओं में क्रूरता और स्त्रियों में रति दोनों ही एक साथ रहती हैं, उसी प्रकार तर्क और शृंगार तथा काव्य का योग एक ही पुरुष में हो सकता है। वह श्लोक इस प्रकार है:—

---

* अर्थ—अज्ञान को नाश करता है, बुद्धि को निर्मल करता है, संस्कृत पदों के उचित व्यवहार करने की शक्ति देता है; शास्त्र में अभ्यास करने की योग्यता पैदा करता है; इस संसार में तर्क शास्त्र क्या क्या उपकार नहीं करता!

† अर्थ—काव्य के मर्म को कर्कश विचार में व्यग्र तार्किक भला क्या समझ सकता है? हल जोतनेवाला ग्रामीण कनखियों अथवा छिपी मंद मुस्कान को कैसे समझ सकता है?

येषां कोमलकाव्यकौशलकला लीलावती भारती।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते॥
यैः कान्ताकुचमंडले कररुहाः सानंदमारोपिता।
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुंभशिखरे नारोपणीयाः शराः॥*

यह भी कहा जाता है कि वात्स्यायन भाष्य के कर्त्ता और काम सूत्रों के रचयिता एक ही वात्सायन हैं। धार्मिक लोगों में तर्क शास्त्र का विशेष आदर नहीं है; वे लोग इस को ईश्वर से विमुख करानेवाला समझते हैं।

नीचे के श्लोक में तर्क शास्त्र की धर्म से विमुखता दिखाई है—

न जिघ्रत्याम्नायं स्पृशति न तदङ्गान्यपि सकृत् पुराणं।
नादत्ते न गणयति किं च स्मृतिगणम्॥
पठञ्शुष्कं तर्कं परपरिभवार्थोक्तिभिरसौ।
नयत्यायुः सर्वं निहत परलोकार्थं यतनः॥ †

जो लोग तर्क शास्त्र को इस दृष्टि से देखते हैं, उनसे हमारा इतना ही कहना है कि वे न्याय दर्शन का पहला सूत्र देखें।

---

* अर्थ—काव्य में चतुर पुरुष यदि मुख से कर्कश तार्किक वचन निकालें, तो भी उनका कुछ नहीं बिगड़ता; क्योंकि जिनके नख आनंद के साथ कान्ता कुच तट पाटन में चंचल हो उठते हैं क्या मत्तगजेंद्र गंडस्थल के छेदन करने में वाण मोचन न करें ? [प्रसन्न राघव के कर्ता भी अच्छे प्रसिद्ध तार्किक थे।]

† न वेदों को पढ़ता है न उसके षडंगों को छूता है, पुराणों का एक वार भी ग्रहण नहीं करता और न स्मृतियों ही की पर्वाह करता है। दूसरे का पराभव करने के लिये ही तर्क पढनेवाला मनुष्य परलोक की चिन्ता न करता हुआ जीवन व्यतीत करता है।

तर्क शास्त्र के ज्ञान में मोक्ष का ही लक्ष्य रक्खा है। फिर तर्क शास्त्र न आस्तिकता ही बतलाता है और न नास्तिकता। तर्क शास्त्र का किसी शास्त्र से विरोध नहीं। तर्क विचारों के नियम का ज्ञान है, और विचारों के नियम सभी शास्त्रों में लगते हैं। तर्क शास्त्र द्वारा सब शास्त्रों का यथार्थ अर्थ समझने की शक्ति बढ़ती है। तर्क शास्त्र को पढ़कर जो लोग अन्य शास्त्रों से विमुख रहते हैं, उसके लिये तर्क शास्त्र दोषी नहीं, दोषी वही लोग हैं। क्योंकि यदि अंधा खंभे को न देखे, तो इसमें खंभे का क्या दोष? (नैष स्थाणोरपराधो यदेनमंधो न पश्यति।) मनु महाराज ने धर्म के अनुसंधान में तर्क की क्षमता मानी है। उनका यह नहीं कहना है कि मज़हब में अक़्ल का दख़ल नहीं। देखिए—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥

भक्ति और तर्क का कोई वास्तविक विरोध नहीं है। भक्ति स्वरूप श्रीचैतन्य और उनके गुरु वासुदेव पंडित श्रीवल्लभाचार्य्यादि धार्मिक नेता सभी अच्छे तार्किक हुए हैं। भक्त-शिरोमणि नारद जी को भी तर्क शास्त्र का ज्ञाता कहा जाता है।

तर्क शास्त्र के तीन अंग

बहुत से लोगों ने तर्क शास्त्र के तीन अंग वा विभाग किए हैं, जो इस प्रकार हैं—

साधारण ग्रहण (Simple Apprehension)

निर्णय (Judgment)

अनुमिति (Inference)

ये विभाग विचार संबंधी हैं। इनके अनुकूल भाषा में विभाग इस प्रकार से हो सकते हैं—

पद (Term) वाक्य (Proposition)

अनुमान (Syllojism)

इन लोगों का कथन है कि पहले किसी वस्तु को बहुत बार देखने से अथवा उसी प्रकार की बहुत सी वस्तुओं के देखने से उस वस्तु का मन में विचार बन जाता है; उसी को साधारण ग्रहण कहते हैं। जब दो विचार वा साधारण ग्रहण मिलते हैं अथवा उनका एक दूसरे से मिलान किया जाता है, तब निर्णय होता है; और निर्णय में यह देखा जाता है कि कौन कौन से साधारण ग्रहणों का योग हो सकता है। आग के साधारण ग्रहण के साथ उष्णता का योग हो सकता है, शीतलता का नहीं। इसके अनन्तर दो निर्णयों के योग से एक अनुमिति उत्पन्न होती है। जैसे सब मनुष्य नश्वर हैं; सुकरात मनुष्य है, अतः सुकरात नश्वर है। यह मत आज कल ठीक नहीं माना जाता। पद से वाक्य की उत्पत्ति नहीं है, वरन् पद वाक्य के विश्लेषण का फल है और निर्णय ही साधारण ग्रहण है। संकुचित रूप में उसको साधारण ग्रहण कहते हैं और विस्तृत रूप में निर्णय; और निर्णय का ही और विस्तार करने

से अनुमान बन जाता है। ये तीनों अंग पृथक् नहीं, वरन् एक दूसरे से मिले हुए हैं। इस विषय में इटली के दार्शनिक क्रोची (Croce) ने अच्छा लिखा है–"As a matter of fact no one will ever succeed in thinking a concept, a real concept, which is not at the same time a judgment i. e., an assertion of its own essence; nor can any one find a concept or a judgement, which is not at the same time a conclusion, being connected in a system with other conceptions and judgments." अर्थात् वास्तव में कोई ऐसे बोध के विचार करने में सफल नहीं हो सकता जिसका उसी के साथ निर्णय न हो, अर्थात् अपनी सत्ता का कथन न हो; और न कोई मनुष्य ऐसा बोध वा निर्णय पा सकता है जो कि उसी समय किसी व्यवस्थान या सिलसिले में और बोधों या निर्णयों के साथ लगा होने के कारण किसी अनुमान का निगमन रूप न हो।

पहले अध्याय पर अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) तर्क शास्त्र की परिभाषा दीजिए।

(२) यूरोप में और भारतवर्ष में तर्क शास्त्र का उदय किस प्रकार हुआ? यूरोप और भारतवर्ष में तर्क शास्त्र के मूल आचार्य्य कौन माने गए हैं?

(३) भारतीय और यूरोपीय तर्क शास्त्र के जो तीन काल माने गए हैं, वे कौन कौन हैं और उनमें तर्क शास्त्र का किस प्रकार विकास हुआ?

(४) तर्क शास्त्र का विषय क्या है ? विचार, भाषा या वस्तु ?

(५) क्या विचार भाषा से पृथक् रह सकते हैं ? इसका विवेचनापूर्ण उत्तर दीजिए।

(६) आकार और पदार्थ में जो भेद माना गया है, वह कहाँ तक तर्क-सम्मत है ?

(७) तर्क शास्त्र की उपयोगिता पर विवेचना करते हुए बतलाइए कि उसे शास्त्रों का शास्त्र कहना किस अर्थ में ठीक है।

(८) जब सब लोग बिना व्याकरण पढ़े बोल लेते हैं और बिना तर्क शास्त्र के ज्ञान के विचार कर लेते हैं, तो तर्क शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ है ?

(९) तर्क शास्त्र का व्याकरण, मनोविज्ञान और अलंकार शास्त्र से संबंध बतलाइएं।

(१०) तर्क शास्त्र के तीन अंग कौन माने गए हैं और उनका मानना कहाँ तक ठीक है ?

दूसरा अध्याय

विचार और उसके नियम

तर्क शास्त्र का विषय विचार के नियम हैं। पर उस विचार का क्या रूप है जिसके नियमों का तर्क शास्त्र द्वारा विवेचन किया जाता है ? वह विचार भूत और भविष्य से संबंध नहीं रखता। जिस विचार के ऊपर तर्क शास्त्र विवेचन करता है, वह विचार चाहे भूत संबंधी हो चाहे भविष्य-संबंधी, उसको तर्क शास्त्र का विषय बनाने के लिये वर्त्तमान का रूप दे दिया गया है।

विचार का साधारण रूप

भारतीय तार्किक ग्रंथों ने भी अनुमान का विषय अनुभव माना है और उस अनुभव को स्मृति-भिन्न ज्ञान कहा है (स्मृति भिन्नं ज्ञानं अनुभवः)। जिस विचार को तर्क शास्त्र का विषय बनाते हैं, उसका रूप "निर्णय" होता है; अर्थात् उसमें किसी धर्मी के किसी धर्म का भाव या अभाव बताया जाता है। यह विचार चाहे प्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में हो और चाहे अदृष्ट वा आध्यात्मिक विषयों से संबंध रखता हो, उसका साधारण रूप "निर्णय" (Judgment) है।

वाक्य इसी "निर्णय" का भाषा में व्यञ्जन है। निर्णय को ही विस्तार देने से अनुमान बन जाता है और अनुमान को

संकुचित करने से निर्णय बन जाता है। निर्णय को यदि संकुचित किया जाय, तो धर्मी रह जाता है। किंतु धर्मी का बिना धर्म के विचार करना कठिन है; इसलिये निर्णय ही विचार का साधारण रूप है। धर्मी और धर्म का समवाय संबंध माना गया है। धर्म और धर्मी एक होते हुए भी भिन्न हैं। धर्मी और धर्म में एकता इस बात की है कि धर्म धर्मी का ही है; और भेद इस बात का है कि धर्मी पूर्ण है और धर्म उसी का एक अंश है। पदार्थ और उसके ज्ञान में भी एकता और भेद दोनों ही वर्त्तमान हैं। एकता और अनेकता का योग ही विचार का मुख्य लक्षण है। विचार के जो नियम बतलाए जायँगे, उनके साथ यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि एकता में अनेकता लगी हुई है।

यथार्थानुभव का लक्षण — भारतीय तर्क शास्त्रों में अनुभव के यथार्थ और अयथार्थ नामक दो भेद किए गए हैं। यथार्थ अनुभव का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः

तिस धर्मवाले पदार्थ विषे उसी धर्म को विषय करनेवाला जो अनुभव है, उसे यथार्थानुभव कहते हैं।

तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः

तिस धर्म के अभाववाले पदार्थ में तिस धर्म को विषय करना अयथार्थ अनुभव है। धर्मी में उसके धर्मों का अनुभव करना यथार्थानुभव है और धर्मी में उसके धर्म के विपरीत

धर्म का मानना अयथार्थ अनुभव है। यही बात एक दूसरे सम्बन्ध में श्रीमद्भगवत् गीता के इस सिद्धान्त में दिखाई गई है-

नासतो विद्यतेऽभावो ना भावो विद्यते सतः*।

जो असत् है, उसका अभाव नहीं है; और जिसका अभाव है, उसका असत् नहीं हो सकता। यह नियम बहुत ही व्यापक है। यों देखने में तो यह साधारण है, किन्तु जब इसका भूल से तिरस्कार हो जाता है, तभी इसका यथार्थ मूल्य मालूम होता है। अनुमान में भी जिसका भाव होता है, उसी का भाव सिद्ध किया जाता है। जिसका अभाव है, उसका भाव सिद्ध नहीं हो सकता। कारण में जिसका भाव होता है, कार्य्य में भी उसी का भाव रहता है। युरोप के तर्क शास्त्र में प्राचीन काल से तीन नियम चले आते हैं†। उनका आकार इस प्रकार से है। इनकी व्याख्या कई प्रकार से की जाती है।

---

* इसी का आधारभूत एक सांख्य सूत्र भी है-नासदुत्पद्यते न सद्विनश्यति। असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता। यह सिद्धान्त वास्तविक सत्ता के विषय में है; लेकिन यह विचार के विषय में भी लगाया जा सकता है। जो गुण जहाँ है, उसको वहाँ देखना यथार्थ ज्ञान है; और जो गुण जहाँ नहीं है, उसको वहाँ देखना अयथार्थ ज्ञान है।

† इन तीन नियमों के अतिरिक्त लीवनीज प्रतिपादित पर्य्याप्त कारण का नियम (Law of Sufficient Reason) भी माना गया है। जो वस्तु जैसी है, उसका पर्य्याप्त कारण होना चाहिए। कार्य्य कारण की विश्व-व्यापकता (Law of Universal Causations) जो कि निगमनात्मक अनुमान का आधार है, इसी नियम का रूपान्तर है। संसार कार्य्य कारण की शृंखला में बँधा हुआ है—कारण का संबंध भी भेद में अभेद का ही सूचक है। कार्य्य और कारण भिन्न होते हुए भी एक हैं।

विचार के तीन नियम

प्रत्येक वस्तु जो है, सो है; अर्थात् अ हमेशा अ रहता है।

तादात्म्य का नियम

यह नियम "नासतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सतः" वा 'तद्वति तद् प्रकारकत्वं यथार्थानुभवः' से भिन्न नहीं है।

व्याघात का नियम किसी वस्तु के लिये एक ही समय में होना और न होना नहीं कह सकता। अ एक ही समय में ब

व्याघात का नियम

और ब का अभाव नहीं हो सकता। यह भी पहले ही नियम के अभाव में रूपांतर है। 'तद्भाववति तद् प्रकारत्वं अयथार्थानुभवः' यह इस नियम का संस्कृत में रूपान्तर है। दो व्याघातक गुणों का एक वस्तु में होना संशय का कारण होता है। संशय और विपर्य्य दोनों ही अयथार्थ ज्ञान हैं। संशय की इस प्रकार व्याख्या की गई है—'एकस्मिन् धर्म्मणि विरुद्ध नाना कोटिकं ज्ञानं' एक ही धर्मवाले में विरुद्ध नाना कोटि का ज्ञान संशय है।

प्रत्येक वस्तु अमुक गुणवाली होगी या न होगी; कोई बीच की अवस्था नहीं हो सकती। 'अ' या तो 'ब' है, या नहीं है;

मध्य दशा निषेधक नियम

दोनों बातों में से कोई अवश्य है। यह नियम भी दूसरे नियम का रूपांतर है। सर्व दर्शन संग्रह में बौद्ध दर्शनों का वर्णन करते हुए दूसरे और तीसरे नियमों का सहारा लिया गया है। यह नियम सार्वभौमिक है। दूसरे नियम का इस प्रकार से वर्णन आया

है—'नैकतापि विरुद्धानामुक्ति मात्र विरोधतः' । तीसरे नियम का इस प्रकार उल्लेख है—'परस्पर विरोधे हि न प्रकारांतर-स्थितिः' । अर्थात् जहाँ परस्पर विरोध है अथवा जहाँ दो व्याघातक पद वा वाक्य हैं, वहाँ और किसी तीसरे प्रकार की स्थिति नहीं हो सकती । कुसुमाञ्जलि की आठवी कारिका में भी यह नियम आये हैं ।

पहले नियम का अर्थ लगाते हुए वहुत से लोगों ने उद्देश्य (Subject) और विधेय पद (Predicate) की पूर्ण एकता को ही यथार्थ ज्ञान का आदर्श माना है । वहुत से लोगों ने इसका अभिप्राय शब्द का एक ही अर्थ बना रहना बताया है । इस अर्थ से तर्क शास्त्र के थोड़े ही अंग की पुष्टि होती है । जो लोग इस नियम का आशय उद्देश्य पद की और विधेय पद की पूर्ण एकता समझते हैं, उन लोगों से यह पूछना चाहिए कि निर्णय द्वारा ज्ञान की कुछ वृद्धि होती है या नहीं । यदि वृद्धि होती है, वृद्धि क्या यदि ज्ञान भी होता है, तो उद्देश्य पद और विधेय पद एक नहीं हो सकते । और यदि एक नहीं हो सकते हैं, तो पूर्ण एकता का पक्ष छोड़ना चाहिए ।

उनकी व्याख्या

विचार में भेद और अभेद दोनों ही लगे हुए हैं और इस नियम द्वारा बताया जाता है कि भेद होते हुए भी अभेद है । अनुमान में निगमन पूर्व वाक्यों से भेद रखता हुआ भी एक है, कार्य्य कारण से भिन्न होता हुआ भी एक है । भेद और

अभेद सभी में लगता है। ऊपर का अर्थ निर्णय के आन्तरिक संबंध को बताता है; और जो अर्थ नीचे दिए जाते हैं, वे निर्णय की स्थिरता बताते हैं। पहले नियम का एक और अर्थ लगाया गया है। वह यह कि जब जब निर्णय बार बार दोहराया जाय, तब तब वह एक सा ही रहे और एक यह भी अर्थ लगाया गया है कि भिन्न भिन्न कालों में और भिन्न भिन्न मनुष्यों के लिये निर्णय एक ही सा है; अर्थात् सत्य वही है जो सब लोगों के लिये और सब काल में सत्य हो। 'अ' यदि 'ब' है, तो भिन्न भिन्न काल में और भिन्न भिन्न लोगों के लिये 'अ' सदा 'ब' ही रहेगा।

'तद्वति तत् प्रकारकत्वं' में भी यह अर्थ घटाए जा सकते हैं। अस्तु; जो कुछ भी हो, ज्ञान में एकता का जो अंश है, यह पहला नियम उसके ऊपर जोर देता है। ज्ञान में भेद के साथ जो अभेद लगा हुआ है, उसकी सीमा दूसरे नियम द्वारा बाँधी जाती है। भेद इतना न होना चाहिए कि वह व्याघातक हो और उसमें एकता के नियम का विरोध हो। दूसरे नियम द्वारा बतलाया जाता है कि 'अ' और 'ब' इतने भिन्न न हों कि वे एक दूसरे के व्याघातक हो जायँ। 'अ' 'ब' है, यह निर्णय भिन्न लोगों के लिये भिन्न हो, किन्तु वह भिन्नता इतनी न होगी कि 'अ' 'ब' है के स्थान में 'अ' 'ब' (× अ का अभाव) है।

तीसरे नियम की उपयोगिता में बहुत से लोगों ने शंका की है; किन्तु दूसरे और तीसरे नियम में थोड़ा भेद होने के कारण

तीसरे नियम को बिलकुल व्यर्थ नहीं कह सकते। दूसरे नियम द्वारा दो व्याघातक वाक्यों में एक को मिथ्या बतलाया जाता है और तीसरे नियम में दो व्याघातक वाक्यों में एक की सत्यता बतलाई जाती है। यद्यपि एक की सत्यता से दूसरे का मिथ्यात्व लगा हुआ है, तथापि इस बात को भी प्रकट कर देना आवश्यक है कि दोनों में पृथक् पृथक् बातों पर ज़ोर दिए जाने के कारण यह नियम भिन्न है। तीनों नियम एक दूसरे के रूपान्तर हैं। फिर तीसरे नियम को ही क्यों निरर्थक कहें। वैकल्पिक अनुमानों का तीसरा नियम ही आधार है। यह नियम भी भेद में अभेद से रहित नहीं। ये नियम एक होते हुए भी भेद रखते हैं। सार यह है कि सारे ज्ञान का रूप भेद में अभेद है। ज्ञान क्या, संसार भर में भेद के साथ अभेद लगा हुआ है—सत् के साथ असत् लगा हुआ है। किन्तु असत् को सत् नहीं कह सकते और सत् को असत् नहीं कह सकते। 'ना भावो विद्यते सतः नासतो विद्यते भावः" यह सिद्धान्त आध्यात्मिक है; किन्तु यह लौकिक ज्ञान के लिये भी बड़ा उपयोगी है। जिस गुण या पदार्थ का जहाँ अभाव हो, वहाँ भाव नहीं माना जा सकता। भेद में अभेद लगा हुआ है और अभेद में भेद। किन्तु जहाँ भेद की प्रधानता है, वहाँ तादात्म्य कर भेद छिपाया भी नहीं जा सकता और यह भी नहीं हो सकता कि भेद अभेद दोनों में से किसी एक को प्रधानता न देकर भेद या अभेद का रूप न दिया जाय।

पहले नियम द्वारा जो भिन्न भिन्न पदार्थ एक संबंध या संगति में अविरोध रूप से आ सकते हैं, अर्थात् उनका तादात्म्य स्थापित किया जाता है, वह प्रागमानात्मक अनुमान का आधार है। जब भेद इतना होता है कि विरोध की मात्रा को पहुँचता है, तो दूसरे नियम द्वारा अत्यंत भेदवाले पदार्थों वा गुणों की संगति की असम्भावना वा अभाव बतलाया जाता है। यह निषेधात्मक अनुमानों का आधार है। तीसरा नियम भेद के अनुसार है। अनुमानकर्त्ता को दो सम्भावनाओं में से एक का निश्चय करने के लिये बाध्य किया जाता है। यदि वह भेद अविरोधात्मक हो, तो निषेध का निषेध कर भावात्मक फल निकालना पड़ेगा; और यदि विरोध है, तो भाव का निषेध कर निषेध का भाव रूप फल निकालना पड़ेगा। दो व्याघातक वाक्यों में से एक जरूर सत्य होगा, यही वैकल्पिक न्याय का मूल है। सार यह है कि भेद में अभेद रहे, किंतु विरोध की मात्रा को न पहुँचे। जो विरोध है, वह किसी प्रकार से दूर नहीं हो सकता। संगति ही सत्य की कसौटी है, संगति ही सत्य है। भेद में अभेद को ही संगति कहते हैं। असंगत बात को वेद भी प्रमाणित नहीं कर सकते—"बाधित-मर्थं वेदोऽपि न बोधयति"।

ये नियम किसी प्रकार से राजनैतिक नियम नहीं हैं जो किसी पुरुष विशेष की इच्छा पर निर्भर हों। ये नियम प्राकृतिक नियमों की भाँति अटल और अनुल्लंघनीय

हैं। इन नियमों का उल्लंघन होता है, लेकिन विना जाने हुए।

विचार के नियमों की राजनीतिक नियमों से तुलना

ये नियम ऐसे हैं जो प्राकृतिक नियमों की भाँति वर्णनात्मक (Positive) हैं और उसी के साथ कर्त्तव्य तर्क शास्त्र के नियमों की भाँति आदर्श रूप हैं। इन नियमों में एक वात विशेष है कि और सव नियम मानने के हैं। न मानने से चाहे दुःख उठाना पड़े, किन्तु उनके न मानने में मनुष्य स्वतंत्र है। ये नियम ऐसे हैं कि इनको जान वूझकर कोई नहीं तोड़ सकता। मनुष्य जान वूझकर भी चोरी करते हैं, जान वूझकर भी आग में कूदते हैं; किंतु कोई मनुष्य जान वूझकर व्याघातक वात नहीं कह सकता। जव एक वार उसके वाक्यों की व्याघातकता वह स्वीकार कर लेता है, तव उनको वह अपने मुख से नहीं निकालना चाहता। इसका कारण यह है कि और नियम मानने के लिये हैं और यह नियम मानने के नियम हैं। कर्त्तव्य शास्त्र के नियम पालन करने के लिये हैं। आदर्श और संकल्प में कभी कभी विरोध हो जाता है; किंतु यहाँ पर नियम, नियम के अधिकारी और नियम के विषय में कोई भेद नहीं। दीपक की भाँति ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है और दूसरों को भी प्रकाशित करता है।

दूसरे अध्याय पर अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) जो ज्ञान तार्किक निर्णय का विषय होता है, वह किस प्रकार का है?

(२) भारतीय तार्किकों ने यथार्थ और अयथार्थ अनुभव के जो लक्षण बतलाए हैं, उनकी व्याख्या कीजिए ?

(३) यूरोपीय तर्कशास्त्र के अनुसार विचार के साधारण नियम बतलाइए और उसी के साथ उनकी पूरी पूरी व्याख्या करते हुए उनका प्रयोजन बतलाइए ?

(४) क्या भेद-रहित शुद्ध तादात्म्य सम्भव है ?

(५) इन नियमों का अनुमान से संबंध बतलाइए ?

(६) तीनों नियमों में आप किस नियम की मुख्यता समझते हैं ?

(७) विचार के नियम का राजनीतिक नियमों से क्या भेद है ?

(८) विचार का चौथा नियम कौन सा माना गया है ?

तीसरा अध्याय

पद (Term)

किसी तार्किक वाक्य के धर्मी वा धर्म-सूचक शब्द वा शब्द-समूह को पद कहते हैं। प्रत्येक शब्द पद नहीं हो सकता, किंतु पद शब्द है। जो शब्द स्वतंत्र रीति से किसी वाक्य के उद्देश्य वा विधेय नहीं बन सकते, वे पद की संज्ञा में नहीं आते। यास्काचार्य्य के निरुक्त में शब्द चार प्रकार के माने हैं—'नामाख्याते उपसर्ग निपाताश्च'। (१) नाम जिसमें संज्ञा, सर्वनाम, विशेषणादि जिनकी विभक्तियाँ हो सकती हैं, शामिल हैं; (२) आख्यात अर्थात् क्रियाएँ; (३) उपसर्ग (प्र, परा, अप, नि आदि); और (४) निपात च, एवं, इत्थं, हा, पुनः आदि जिनकी कोई विभक्तियाँ न हो सकें। इनमें से नाम और आख्यात वाचक कहे जाते हैं और उपसर्ग और निपात द्योतक कहे जाते हैं। इनका नाम और आख्यात के साथ उपयोग हो सकता है, किंतु स्वतंत्र रीत से नहीं। नाम और आख्यात ही पद कहे जाते हैं। तर्क शास्त्र का पदों से ही संबंध है।

पद किसको कहते हैं

अँगरेजी तर्क ग्रंथों में वे शब्द जो पद होने की अर्थात् किसी वाक्य के उद्देश्य वा विधेय होने की क्षमता रखते हैं,

स्वाधीन (Catagorematic) कहलाते हैं; और जो ऐसी शक्ति नहीं रखते, वे अस्वाधीन (Syncatagorematic) कहलाते हैं।

अँगरेज़ी तार्किकों ने नाम और पद में अंतर किया है। नाम वह है जो पद होने की क्षमता रखता है। पद का संबंध

नाम और पद

तार्किक वाक्य से है। जब हम नाम को निरपेक्ष रीति से देखते हैं, तब वह नाम है; और जब तार्किक वाक्य के संबंध में देखते हैं, तब वह पद है। ऊपर के दिए हुए विभाग के अनुसार नाम स्वाधीन शब्द हैं। इसमें यास्क कृत विभाग के नाम और आख्यात दोनों आ जाते हैं।

नाम की परिभाषा

होब्स साहब ने नाम की इस प्रकार परिभाषा दी है—

'A name is word taken at pleasure to serve for a mark which may raise in our minds a thought like to some thought which we had before and which, being disposed in speech and pronounced to others, may be to them a sign of what thought the speaker had in his mind." अर्थात् नाम एक शब्द है जिसको कि हम अपनी खुशी से एक ऐसे संकेत का काम देने के लिये चुनते हैं, जो कि हमारे मन में ऐसे विचार की, जो कि हमको पहले हुआ हो, जाग्रति करे और जो कि बोले जाने पर श्रोता के मन में वैसे

ही विचार की उत्पत्ति करे जैसा कि वक्ता के मन में था। इस परिभाषा द्वारा समाज में भाषा की जो उपयोगिता है, वह बतलाई गई है। भाषा न केवल दूसरों के साथ वार्तालाप और व्यवहार के लिये आवश्यक है,। वरन् अपने विचारों को पहचानने और दोहराने के लिये भी आनश्यक है। इस परिभाषा में अपनी खुशी वा इच्छा से (Taken at plesure) जो वाक्य आया है, वह विचारने योग्य है। वह वतलाता है कि विचार और भाषा का नित्य संबंध नहीं है। भाषा संकेत मात्र है। यह बात यहाँ तक तो ठीक है कि शब्दों के अर्थ में क्रम-विकास है और शब्दार्थ संबंध बिलकुल अचल नहीं है; किंतु यदि इच्छा को पूर्ण स्वतंत्रता मान लें, तो ठीक नहीं है। यदि भाषा के संबंध में पूर्ण स्वतंत्रता हो जाय, तो सामाजिक संघटन असंभव हो जाय। अरस्तू ने शब्दों की वाचकता रूढ़ि द्वारा मानी है। रूढ़ि में व्यक्ति की इच्छा नहीं रहती, वरन् जन-समूह की इच्छा हो जाती है।

शब्द की शक्ति के संबंध में न्याय-वालों का मत

न्याय का मत भी ऊपर के मत से बहुत कुछ मिलता जुलता है। तर्क संग्रह में पद की इस प्रकार परिभाषा दी है—"शक्तं पदं" अर्थात् शक्तिवाला पद कहलाता है। फिर शक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वर संकेतः शक्तिः।" इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिए कि यह ईश्वर का बनाया हुआ संकेत ही शक्ति है। न्याय

सिद्धांत मुक्तावली में शक्ति की इस प्रकार परिभाषा दी है—

"शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य संबंधः, स च चास्माच्छब्दा-द्‌यमर्थो बोधव्य इतीश्वरेच्छारूपः.................नव्यास्त्वीश्वरेच्छा न शक्तिः किंत्विच्छैव।" अर्थात् "पद के साथ पदार्थ के संबंध को शक्ति कहते हैं। वह संबंध 'इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिए' इस प्रकार की ईश्वरेच्छा रूप है।...........नव्य न्यायवाले तो शक्ति को ईश्वरेच्छा नहीं कहते, वरन् केवल इच्छा ही कहते हैं।" प्राचीनों ने शक्ति को ईश्वरेच्छा पर निर्भर कर एक प्रकार से शब्द और अर्थ का नित्य संबंध मान लिया; क्योंकि ईश्वरेच्छा को यदि नित्य नहीं मानते, तो कम से कम सृष्टि के आदि में तो मानते ही हैं। ईश्वर-इच्छा के मानने से आधुनिक शब्दों में अव्याप्ति रहती है। इस अव्याप्ति को बचाने के लिये कहा जाता है कि बच्चों का आधुनिक नामकरणादि भी ईश्वराज्ञा के ही अनुकूल है—"एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्य्यादितीश्वरेच्छायाः सत्वात्"। इच्छा के कहने से ईश्वर और मनुष्य दोनों ही की इच्छा आ जाती है। इच्छा से इतना व्यञ्जित होता है कि यह शक्ति शब्द में स्वाभाविक नहीं है, वरन् आरोपित है। नैयायिकों का कहना है कि यदि शब्द में उसकी शक्ति स्वाभाविक है, तो मिस्री कहने से मुँह मीठा होना चाहिए और अग्नि कहने से मुँह जलना चाहिए। लेखक इस मत से सहमत नहीं। शक्ति का संबंध बोध से है, न कि प्रत्यक्ष पदार्थ से। अग्नि का बोध भी

तो दाहकता नहीं उत्पन्न करता। शक्ति शब्द के साथ ही लगी हुई है, वह उससे अलग नहीं होती। शब्द और उसकी शक्ति दोनों को अनादि मानना तो विवादास्पद है; किंतु यह कहा जा सकता है कि जब सें शब्द है, तभी से उसकी शक्ति है। मीमांसक लोग शब्द का अर्थ से नित्य संबंध मानते हैं। यदि संबंध की दृढ़ता और शब्द तथा अर्थ के अपार्थक्य को ही हम मीमांसक लोगों के मत का सार समझें तो ठीक है; किंतु उसके इस संबंध का अनादित्व मानना विवादास्पद है। शब्द और अर्थ के संबंध पर विचार करने के लिये हमको भाषा के इतिहास में जाना पड़ता है। वर्त्तमान लेखक यह बात मानने को तैयार नहीं कि किसी एक काल में कोई ऐसी सभा हुई हो जिसमें लोगों ने यह निश्चय कर लिया हो कि इस शब्द का यह अर्थ है; क्योंकि ऐसी सभा के लिये भी भाषा की आवश्यकता है। बिना भाषा के मनुष्य एक मत नहीं हो सकते थे। रही ईश्वरेच्छा की बात; उसमें कालिक संबंध मानना कठिन है। ईश्वर-इच्छा अनादि है। इससे मीमांसकों के मत में आना पड़ता है। वर्त्तमान लेखक के मत से क्रमशः विचार और भाषा का उदय साथ ही साथ स्वाभाविक रीति से हुआ। भाषा के विकास में इच्छा की अपेक्षा अनिच्छा की ही मात्रा अधिक है। अनिच्छा से ही रूढ़ि बनती है। कभी कभी, जैसे वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द, इच्छा से बनाए जाते हैं। प्रारंभिक काल में भाषा अनिच्छा से ही बनी मालूम होती है।

शक्ति-ग्रहण के साधन — शब्द का अर्थ वा उसकी शक्ति जानने के लिये आठ उपाय माने गए हैं जो इस प्रकार हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्ध पदस्य वृद्धाः॥

(१) व्याकरण—शब्दों की व्युत्पत्ति द्वारा ज्ञान ।

(२) उपमान–अर्थात् सादृश्य से; जैसे– गौ के सदृश गवय ।

(३) कोष—बहुत से अज्ञात शब्दों का अर्थ कोष से ही जाना जाता है ।

(४) आप्त वाक्य—आप्त अर्थात् श्रुति, स्मृति आदि प्रमाण ग्रंथों से भी शब्दों का अर्थ जाना जाता है ।

(५) व्यवहार—जैसे किसी बड़े आदमी ने कहा—"कुंजर आ रहा है" और सामने से हाथी आ गया, तो मालूम हो गया कि 'कुंजर' का अर्थ 'हाथी' है । किसी बड़े आदमी ने बालक के सामने किसी नौकर से कहा— 'कुरसी लाओ' तो बालक लाए हुए पदार्थ को कुरसी समझने लगा ।

(६) वाक्य शेष—जब किसी शब्द के अर्थ में संशय होता है, तो शेष वाक्य से कभी कभी उस शब्द का अर्थ सिद्ध हो जाता है । जैसे 'दल' पत्ते को भी कहते हैं और फौज को भी । जब पूर्ण वाक्य मालूम हो जाय कि, जैसे— 'वृक्ष से दल झड़ रहे हैं' इस पूरे वाक्य के जानने से दल का अर्थ स्पष्ट हो गया ।

इसी प्रकार,–"भगवन्! अब मैं आपकी शरण हूँ" । इसमें भगवन् शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है । मालूम नहीं, यह बात ईश्वर

से कही जा रही है या किसी पूज्य मनुष्य से। यदि इसके आगे का वाक्य-शेष ज्ञात हो जाय तो यह भ्रम दूर हो जाय। यदि इसके आगे यह लिखा हो कि— "जब से आप सिंहासनारूढ़ हुए, तब से आप के देश में चोरों का भय नहीं रहा।" तो इस वाक्य-शेष से स्पष्ट हो जायगा कि 'भगवन्' शब्द यहाँ किसी राजा के संबोधन में आया है।

(७) विवृत्ति—पर्य्याय शब्दों द्वारा शब्द का अर्थ बतलाने को विवरण या विवृत्ति कहते हैं। जहाँ किसी पुरुष को 'घट' शब्द का अर्थ मालूम है और 'कुम्भ' शब्द का अर्थ नहीं मालूम है, तो यह कह देने से कि कुम्भ और घट एक ही अर्थ रखते हैं, उस पुरुष को कुम्भ का अर्थ ज्ञात हो जाता है।

(८) सिद्धपद का सान्निध्य—जब किसी पुरुष को पहले से यह ज्ञान हो कि कोयल प्रायः आम के पेड़ पर कूँजा करती है और वह किसी के मुख से सुने कि सहकार तरु पर कोयल मधुर रव कर रही है, तो 'कोयल मधुर रव कर रही है' इसका सान्निध्य होने के कारण सहकार तरु का अर्थ वह आप समझ लेगा।

अँग्रेजी तर्क में शब्द-विभाग — अँग्रेजी तर्क ग्रंथों में पदों का कई आधारों पर विभाग किया गया है। यथा—

वस्तुवाचक और भाववाचक

वस्तुवाचक (Concrete) पद वह है जो किसी गुण विशिष्ट वस्तु का नाम हो। भाव-वाचक (Abstract) पद

वह है जो किसी गुण या भाव को, उस वस्तु से जिसमें कि वह पाया जाता हो, पृथक् करके बताता हो।

मनुष्य, आत्मा, पुस्तक, सफेद, काला, इंजिन, विचार ये सब वस्तुवाचक शब्द हैं। वस्तुवाचक शब्दों के लिये यह आवश्यक नहीं कि वे इन्द्रिय के ही विषय हों।

जब वे गुण उन पदार्थों से पृथक् करके देखे जाते हैं, तब उनके वाचक शब्दों को भाववाचक शब्द कहते हैं। एक ही शब्द भाववाचक और वस्तुवाचक दोनों हो सकता है। रंग का अर्थ जब बाजार में बिकनेवाला कोई लाल या पीला रंग लगाया जाता है, तब रंग शब्द वस्तुवाचक है। किसी वस्तु में दिखाई देनेवाला हरा वा पीला रंग भी वस्तुवाचक है। पर जब उसका अर्थ रँगीलापन होता है, तब वह भाववाचक हो जाता है। समाज से जब हिन्दू समाज या ईसाई समाज का अर्थ लगाया जाता है, तब समाज वस्तुवाचक शब्द होता है। और जब समाज का अर्थ 'संघटित रखने की अवस्था' समझा जाता है, तब वह भाववाचक बन जाता है। सफेद को वस्तुवाचक मानते हैं; क्योंकि सफेद शब्द तद्गुण विशिष्ट पदार्थ के लिये व्यवहृत किया जा सकता है। सफेदी भाववाचक मानी गई है। सफेदी सफेद पदार्थों से अलग करके विचारी जाती है।

व्यक्तिवाचक (Proper) जातिवाचक, (Common) और समूह (Collective) ये विभाग प्रायः वस्तुवाचक नामों में ही होते हैं। भाववाचक सभी पद व्यक्तिवाचक होते

हैं। व्यक्तिवाचक पद वे शब्द होते हैं जो किसी व्यक्ति को बतलावें—वह व्यक्ति चाहे मनुष्य हो चाहे, नदी और चाहे पर्वत। देवदत्त, कालिदास, गंगा, हिमालय, भारतवर्ष, वर्त्तमान भारत सम्राट्, हिन्दू विश्वविद्यालय इत्यादि व्यक्तिवाचक शब्द हैं। कभी कभी व्यक्ति वाचक शब्द जाति वाचक भी बन जाते हैं; जैसे सत्यवादी को हरिश्चन्द्र, दानी को कर्ण, धर्मात्मा को युधिष्ठिर, ब्रह्मचारी को भीष्म, बड़े वैद्य को लुकमान या धन्वंतरि, कवि को कालिदास और परोपकारी को हातिम कहते हैं।

जातिवाचक पद (Common or General) वे शब्द हैं जो किसी जाति के व्यक्तियों के कुछ अनुगत गुणों के संबंध से जाति के प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होते हैं। मनुष्य पद मनुष्य जाति के सभी व्यक्तियों को बतलाता है। धातु, लालटेन, पुस्तक, गौ, मकान ये सब जातिवाचक शब्द हैं। जितनी व्यक्तियाँ 'गौ' करके पुकारी जाती हैं, उन सब में कुछ एक से गुण होते हैं। वे गुण अनुगत गुण कहलाते हैं। इन्हीं अनुगत गुणों के संबंध से सब जाति के व्यक्ति एक सूत्र में बँधे रहते हैं। बौद्धों के मत से इन गुणों का अभाव (अपोह) जो और जातियों में पाया जाता है, जाति का लक्षण है। यह मत ठीक नहीं है। भाव का क्षेत्र निश्चित है और अभाव का अनिश्चित है। अमनुष्यत्व में गौत्व, अश्वत्व, करित्व, गृहत्व सभी आजाते हैं; और इन अभावात्मक गुणों से कोई ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। यदि गुणों का अभाव ही जाति

का निर्णायक हो, तो अभाव जानने के लिये भी भाव का ज्ञान आवश्यक है। युरोप में भी कई आचार्यों ने जाति के निर्णायक भावात्मक और अभावात्मक गुण दोनों ही माने हैं; और इस विचार के आधार पर भाव और अभाव की एकता करने का भी साहस किया है। किन्तु इसके साथ यह विचारना चाहिए कि सत्ता अभावात्मक गुणों का समूह नहीं है। अपोह का खंडन न्यायवार्तिक में भी दिया है। इन जातिवाचक शब्दों के विषय में एक बड़ा भारी विवाद है। न्यायदर्शन में २।२।६१ से २।२।६२ तक यह विचार किया गया है कि पद व्यक्ति, आकार वा जाति इन तीनों में से किस के सूचक होते हैं। व्यक्ति को प्रधानता देनेवाले लोगों का कहना है कि अङ्गुलि-निर्देश व्यक्ति का ही किया जाता है। गौ से किसी व्यक्ति का ही निर्देश किया जाता है। व्यक्तियों के अतिरिक्त जाति कोई पदार्थ नहीं। गाड़ी शब्द से किसी विशेष गाड़ी का ही अर्थ लिया जा सकता है और वही हमारे काम में आ सकती है; जाति 'गाड़ी' पर कोई नहीं चढ़ता। जाति को प्रधानता देने-वाले लोगों का कहना है कि यदि गौ किसी व्यक्ति विशेष का नाम है, तो दूसरे व्यक्ति को हम किस प्रकार उस शब्द से पुकार सकते हैं? यदि रामप्रसाद को हम मनुष्य कहते हैं, तो शिव-प्रशाद को किस प्रकार मनुष्य कह सकते हैं? आकार को प्रधानता देनेवाले लोगों का कहना है कि आकार ही के कारण हम व्यक्ति को पहचान सकते हैं; इसलिये वह आकार का ही

वाचक हो सकता है। इस सब वादविवाद का निर्णय न्याय शास्त्र में इस प्रकार किया है—

व्यक्त्याकृति जातयस्तु पदार्थः २।२।६८

पद केवल जाति का ही वाचक नहीं होता; क्योंकि जाति का व्यंजन व्यक्ति और आकृति द्वारा ही होता है। इसलिये शब्द का अर्थ जाति, व्यक्ति और आकार तीनों ही होते हैं। ऊपर के सूत्र पर व्याख्या करते हुए उद्योकराचार्य्य ने बतलाया है कि जब जैसी स्थिति हो, तब वैसा अर्थ समझना चाहिए। जैसे कोई कहे—गौस्तिष्ठति=गाय बैठी है। यह बात सब गौओं के लिये समान नहीं है; यहाँ गौ का अर्थ व्यक्ति किया जाता है। जहाँ ऐसी बात कही जाय कि सब पर लागू हो; जैसे—गौर्न पदास्पृष्टव्या=गाय को पैर से नहीं छूना चाहिए, यहाँ गौ पद का अर्थ जाति से है। जहाँ पर केवल आकार से अभिप्राय हो, वहाँ प्राकृतिक अर्थ समझना चाहिए। जैसे पिष्टकमयो गावः क्रियन्ताम=पीठी वा आटे की गाय बनाओ। यहाँ पर आकार से ही मतलब है, वास्तविक गाय से नहीं। जाति के अस्तित्त्व के विषय में ऊपर के झगड़े से मिलता हुआ झगड़ा युरोप में भी उठाया गया है। जब हम रामप्रसाद कहते हैं, तब हमको उस नाम का अधिकरण एक व्यक्ति मिलता है। इस प्रकार जातिवाचक शब्दों अथवा जाति वा सामान्य का अधिकरण कोई है या नहीं, इस प्रश्न पर युरोप में तोन मत हैं- वस्तुवादी (Realists), संज्ञावादी (Nominalists) और विचारवादी (Conceptualists)

वस्तुवादी वे लोग हैं जो जाति को व्यक्तियों से भिन्न कोई पृथक् वस्तु मानते हैं। वह वस्तु एक जाति के भिन्न भिन्न व्यक्तियों के सामान्य गुणों का अधिकरण होती है। किन्तु विचार करने पर यह मालूम होता है कि वास्तविक वस्तु व्यक्ति ही होती है। सामान्य गुण विशेष गुणों से अलग नहीं रह सकते। यदि कोई सामान्य गौ की कल्पना की जाय, तो वह गौ व्यक्ति ही होगी; जाति की मानसिक मूर्त्ति नहीं बन सकती। संज्ञावादियों का कहना है कि जातिवाचक शब्द केवल नाम हैं और जाति के अनुरूप कोई वास्तविक वस्तु नहीं होती। यह नाम किसी विशेष कारण से नहीं दिया जाता। सुभीते के लिये एक से पदार्थों को एक नाम से पुकारने लगते हैं (यह मत नैयायिकों के मत से मिलता जुलता है)। इसके साथ ही यह विचारना चाहिए कि इस एकता का आधार क्या है। इस एकता का आधार उन व्यक्तियों के एक से धर्म वा गुण हैं। इन्हीं गुणों को जब एक नाम से पुकारने लगते हैं, तब जाति बन जाती है। विचारवादियों का यही मत है। अनुगत गुणों का एकत्र ज्ञान ही जाति है। जाति की वास्तविकता इतनी ही है कि उसके अनुगत गुण वास्तविक हैं और वास्तविक व्यक्तियों में रहते हैं। संज्ञावादियों का कथन इस अंश में ठीक है कि गुणों के एकत्र ज्ञान के लिये एक शब्द चाहिए।

इस मत से विचार और भाषा का घनिष्ट संबंध प्रकट होता है। किन्तु यदि भाषा के पीछे कुछ विचार न हो, तो वह

आत्मा-शून्य शरीर की भाँति है; इसलिये जाति के विचार में अनुगत गुणों का विचार मुख्य है।

"गौः स्वरूपेण न गौः, नाप्यगौ; गोत्वाभिसंबंधात्तु गौः" वाक्य पढ़ीये।

समुदायवाचक पद (Collective) वे शब्द होते हैं जिनके द्वारा बहुत से व्यक्तियों को एक करके बताया जाता है। जातिवाचक शब्द जाति के एक एक व्यक्ति के बोधक होते हैं और समूहवाचक शब्द बहुत से व्यक्तियों को एक व्यक्ति में सम्मिलित कर लेते हैं। "सिपाही" शब्द प्रत्येक सिपाही का बोधक होता है; पर फौज शब्द "फौज" के प्रत्येक व्यक्ति का बोधक नहीं हो सकता। हरीसिंह सिपाही है; लेकिन यह नहीं कह सकते कि हरीसिंह फौज है। फौज सभी सिपाहियों के समूह को कहेंगे। समुदायवाचक शब्द भी जातिवाचक शब्द हो सकते हैं। पुस्तकालय शब्द पुस्तकों के संबंध में समुदायवाचक है; किन्तु अन्य पुस्तकालयों के संबंध में पुस्तकालय जातिवाचक शब्द है। समुदायवाचक शब्द व्यक्तिवाचक भी हो सकते हैं; जैसे आगरा कालेज का पुस्तकालय। जातिवाचक और समूहवाचक शब्दों में भेद न करने से बड़ी तार्किक भूल होने की सम्भावना रहती है।

भावात्मक (Positive) और अभावात्मक (Negative) पद

भावात्मक पद वे शब्द हैं जो किसी वस्तु में किसी गुण

का भाव बतलाते हैं; और अभावात्मक वे शब्द हैं जो किसी वस्तु में किसी गुण का अभाव बतलाते हैं। जब ऐसे गुणों का अभाव बतलाया जाय जो कि साधारणतया किसी वस्तु में मौजूद रहते हों, किन्तु किसी कारण से उनका अभाव हो गया हो—जैसे अंधा, काना, लूला, लँगड़ा, मूक—तो ऐसे गुणों के अभाव बतलानेवाले पदों को पर्य्युदासक पद (Privative term) कहेंगे। पत्थर को अचल कहेंगे, पद-हीन न कहेंगे; क्योंकि पत्थर में पद होते ही नहीं। अचल अभावात्मक है; और पद-हीन वा मूक पर्य्युदासक पद हैं। हाँ मनुष्य को पद-हीन कह सकते हैं।

भावात्मक	अभावात्मक
गुणी	अगुणी
पंडित	अपंडित
शुद्ध	अशुद्ध
उजाला	अँधेरा

अभावात्मक शब्द भी एक प्रकार का भाव ही बतलाया करते हैं। अपंडित को हम मूर्ख कहते हैं। अमूर्ख जो पंडित का वाचक है, अभावात्मक शब्द बन जाता है। अभावात्मक शब्द प्रायः भावात्मक अर्थ प्राप्त कर लेते हैं। अपंडित का अर्थ केवल विद्याहीन ही नहीं होता, किंतु सचमुच का मूर्ख ही होता है। अँधेरा उजाले का अभाव है या उजाला अँधेरे का अभाव ? इस संबंध में विपरीत और व्याघा-

तक शब्दों का भेद विचारने योग्य है। विपरीत (Opposite) जैसे सफेद का काला; व्याघातक (Contradictory) जैसे श्वेत का अश्वेत। अश्वेत में काला, पीला, लाल सभी आ जाते हैं। यद्यपि साधारण भाषा में अश्वेत काले का पर्य्याय हो जाता है, किंतु तार्किक भाषा में इसकी व्याप्ति काले से अधिक है। प्रायः विपरीत शब्द व्याघातक शब्दों के अंतर्गत होते हैं। एक दृष्टि से तो व्याघातक शब्दों में एक शब्द के बोध के पदार्थ को छोड़कर संसार भर के और सब पदार्थ आ जाते हैं; किंतु इसी अवस्था में वह स्वयं अपने अपने व्याघातक बन जाते हैं। जैसे कि घट और अघट में दुनियाँ भर के सब पदार्थ आ जायँगे। अघट में घट को छोड़कर सूर्य्य, चंद्र, च्यूँटी, मेज, कुरसी, गंधक, सुख, दुख, जल, पारा, ईश्वर, मिट्टी, सोना, धर्म, अधर्म, दूध, घी, इलायची, शक्कर, तारकोल इत्यादि सभी पदार्थ आ गए। इससे यह बात विचारने योग्य है कि यदि सोने का घट हो, तो उसको स्वर्ण की संज्ञा दी जायगी या घट की; मिट्टी का घड़ा मिट्टी कहा जायगा या घड़ा। व्याघातक शब्दों को इस दृष्टि से देखने में बहुत भ्रम पड़ेगा। इसलिये कुछ लोगों ने व्याघातक शब्दों का यह अर्थ लगाया है कि इनके द्वारा सारे संसार का दो विभागों में भाग नहीं किया जाता, किंतु तद्विषयसंबंधी संसार (Universe of discourse) ही के दो विभाग किए जाते हैं—सोना और गैर-सोना। इस दृष्टि से गैर-सोने में सोने को छोड़कर और

सब धातुएँ आ जायँगी, न कि सोने को छोड़कर सारा संसार। इस प्रकार अश्वेत में सफेद को छोड़कर और सब रंग आ जाते हैं। इस संबंध में यह भी कह देना आवश्यक है कि इस बात में बड़ी सावधानी रखना चाहिए कि व्याघातक और प्रतिकूल शब्द एक न समझ लिए जायँ। काला सफेद का प्रतिकूल है, व्याघातक नहीं। वर्त्तमान दार्शनिक क्रोचीं ने अपने दर्शन में झूठे व्याघातक शब्दों की अच्छी विवेचना की है। उसका कहना है कि लोग भूल से आत्मा की क्रियाओं के विचारात्मक और व्यवहारात्मक क्रियाओं को एवं कर्त्तव्य और अर्थ-शास्त्र को व्याघातक मान लेते हैं। पर यह व्याघातक नहीं हैं और न विपरीत ही कहे जा सकते हैं। व्याघातक और विपरीत दोनों ही प्रकार के जोड़े के शब्द एक दूसरे से स्वतंत्र रहते हैं; किंतु ऐसे जोड़ों में एक दूसरे का आधाराधेय का संबंध रहता है। ऐसे शब्दों को उसने 'पृथक्' वा 'विशिष्ट' (Distinct) नाम दिया है।

अन्योन्याश्रयी (Relative) और अनन्याश्रयी (Absolute) शब्द*

अन्योन्याश्रयी शब्द वह है जिसके साथ दूसरा कोई शब्द लगा हो, अर्थात् एक के स्मरण से दूसरे का स्मरण हो जाय। ऐसे शब्द एक प्रकार से अन्योन्याश्रित होते हैं। जब तक पुत्र न हो, तब तक कोई मनुष्य पिता नहीं कहा जा सकता।

* इनको सापेक्ष और निरपेक्ष या स-संबंध और निस्संबंध भी कह सकते हैं।

पुत्र पिता के आश्रय है और पिता पुत्र के। जब तक प्रजा न हो, तब तक कोई राजा नहीं हो सकता; जब तक मनुष्य के पत्नी न हो, तब तक वह पति नहीं हो सकता; जब तक बहुत से अध्यापक न हों, तब तक कोई मनुष्य मुख्य अध्यापक नहीं हो सकता। एक दृष्टि से संसार भर में कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसका वाच्य पदार्थ संसार के अन्य पदार्थों से कुछ न कुछ संबंध न रखता हो। सारा संसार संबंधों के तंतु-जाल से बँधा हुआ है। विकासवाद के अनुसार मनुष्य अन्य सब जीवधारियों से सकुटुंबी होने का संबंध रखता है। 'रेल गाड़ी' शब्द के कहते ही मन में बहुत से विचार उठ खड़े होते हैं; किंतु इन शब्दों को अन्योन्याश्रयी शब्द न कहेंगे। अन्योन्याश्रय वही शब्द कहे जायँगे जिनका संबंध बहुत स्पष्ट हो। बाक़ी सब अनन्याश्रयी कहे जायँगे। ऐसे शब्द और शब्दों की अपेक्षा नहीं करते।

एकार्थक (Univocal) और अनेकार्थक (Equivocal)

भाषा के हिसाब से शब्दों का एकार्थक और अनेकार्थक-वाला विभाग बड़े महत्त्व का है। एकार्थक पद वह शब्द है जिसका अर्थ एक ही हो। अनेकार्थक पद वह शब्द है जिसका अर्थ एक से अधिक हो। एक हिसाब से तो सभी शब्द अनेकार्थक हैं, क्योंकि प्रत्येक वाक्य के साथ प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग ही होता है। अस्तु; इस समय इस प्रकार के

अर्थ से हमारा अभिप्राय नहीं है। बहुत से शब्द विशेष रूप से अनेकार्थक होते हैं। नाग सर्प को भी कहते हैं और हाथी को भी। वारी एक जाति विशेष को भी कहते हैं और अल्पवयस्क स्त्री को भी। ग्रामीण भाषा में 'वारी' जलाने का भूत कालिक रूप है। लोटा एक पात्र को कहते हैं और एक क्रिया का भी भूत कालिक रूप है। ब्राह्मण प्यासा क्यों रहा और घोड़ा सुस्त क्यों था, इसका उत्तर एक ही शब्द में हो जाता है 'लोटा न था'*। कभी कभी दो शब्द मिलकर उच्चारण भेद से अनेकार्थक हो जाते हैं। "जिसकी यहाँ चाहना उसकी वहाँ चाह ना, जिसकी वहाँ चाह ना उसकी यहाँ चाहना।" इन वाक्यों में एक स्थान में चाह और ना अलग अलग करके समझना चाहिए और एक स्थान में चाहना एक शब्द समझना चाहिए। काव्य में अनेकार्थक शब्दों का अधिक प्रयोग होता है—अनेकार्थकता पर ही श्लेषादि अलंकार निर्भर हैं। कहीं पर समास भेद से अनेकार्थकता होती है, कहीं पर दो शब्दों को एक करने से और कहीं पर एक शब्द को दो करने से अनेकार्थता प्राप्त होती है। कभी कभी विचार श्रृंखलाओं के कारण वाच्यार्थ और लक्षितार्थ में भी भेद हो जाता है।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक शब्द का यौगिक अर्थ एक होता है और रूढ़ि अर्थ दूसरा।

---

* पान सड़े, घोड़ा अड़े विद्या विसर जाय—"फेरा न था"।
जोगी क्यों भागा, ढोलक क्यों न बजी—"मढ़ी न थी" इत्यादि।

शब्दों की अनेकार्थता जानने के लिये भाषा के इतिहास में प्रवेश करना पड़ेगा। यह बात वर्त्तमान लेखक की शक्ति से बाहर है। इस संबंध में यह बात विचारने योग्य है कि अनेकार्थों में से कौन सा अर्थ लगाया जाय। इसका उत्तर काव्य-प्रकाश में नीचे के श्लोकों द्वारा दिया गया है—

संयोगो, विप्रयोगश्च, साहचर्य्यं, विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं, लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती, देशः, कालो, व्यक्तिः, स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः॥

जब शब्द के बहुत से अर्थ होते हैं, तब संयोगादि द्वारा शब्द का यथार्थ अर्थ लगाया जाता है।

संयोग विप्रयोग—जैसे सशंखचक्रो हरिः वा अशंख चक्रो हरि। हरि शब्द का अर्थ विष्णु, बन्दर, शेर * वगैरः है; लेकिन जब शंख चक्र के साथ हरि का संयोग वा विप्रयोग (जैसे शशंखचक्रो हरिः) हो, तब हरि का अर्थ विष्णु ही लिया जायगा।

कहूँ होत संयोग ते, एकै अर्थ प्रमान।
शंख चक्र युत हरि कहें, विश्नै होत न आन॥
असंयोग तें कहुँ कहै, एक अर्थ कविराय।
कहै धनञ्जय धूम विन, पावक जान्यौ जाय॥

* हरिर्विष्णवा वहाविंद्रे भेके सिंहे हये रवौ। चंद्रे कीले प्लवंगे च यमे वाते च कीर्तितः।

साहचर्य्यं—रामलक्ष्मणौ। राम लक्ष्मण हमेशा साथ रहते हैं। जब राम लक्ष्मण होगा, तब राम का अर्थ बलराम वा परशुराम न होगा। "वेनीमाधव के कहें तीरथ वेनीमान।"

विरोधता—रामार्ज्जुन। परशुराम और सहस्रार्जुन का विरोध मशहूर है। यहाँ पर राम का अर्थ परशुराम और अर्जुन का अर्थ सहस्रार्जुन समझा जायगा। "चंद्रै जानि परै राहु ग्रस्यो द्विजराज।"

अर्थ—(प्रयोजन) स्थाणुं भज भवच्छिद्रे-प्रयोजन भव बाधा का काटना है। यहाँ स्थाणु का अर्थ शिव ही लिया जायगा, न कि खंभा वा खूँटा।

प्रकरण—'देव आप सब जानते हैं' इस प्रकार से कोई दूत किसी राजा से कहता है। यहाँ पर प्रकरणवश देव का अर्थ राजा लिया जायगा, न कि देवता लोग। लोग राजा को भी महाराज कहते हैं और ब्राह्मण को भी। "महाराज जल पिलाना।" यहाँ पर प्रकरण से जल पिलानेवाला ब्राह्मण ही अर्थ लिया जायगा। "वृक्ष जानिये दल झरे, दल साजें नृप जानि।"

लिंग—कपिध्वज से अर्जुन और मकरध्वज से कामदेव ही समझे जायँगे न कि कोई राजा जिसकी ध्वजा पर हनुमान जी हों। मुरलीधर से श्रीकृष्ण का अर्थ लिया जायगा, क्योंकि यह उनका विशेष चिह्न है। गिरिधारी भी श्रीकृष्ण जी ही को कहेंगे, हनुमान जी को नहीं।

दूसरे शब्द का सान्निध्य—देवस्य पुराराते: में देव का अर्थ

शिव ही लिया जायगा, और कोई देवता नहीं; क्योंकि शिव ही पुरारि हैं। "सिखी पच्छ तैं जानिए, केकी बड़े समर्थ।"

सामर्थ्य—"मधुना मत्तः कोकिलं"—मधु का अर्थ वसंत और शहद दोनों ही हैं; किंतु शहद में कोकिल को मस्त करने की सामर्थ्य नहीं; यह सामर्थ्य वसंत ही में है। "व्याल वृच्छ तोरे कहै, कुंजर जान्यौ जात।"

औचिती—पातु वो दयिता मुखम्—यहाँ पर मुख शब्द का अर्थ कृपा लिया जायगा; यही अर्थ लेना उचित है। मुख के दोनों ही अर्थ होते हैं—मुख या आनन और कृपा या साम्मुख्य। "तरु पर द्विज बैठो कहै होत विहंग प्रतीत।"

देश—भोजन शाला में यदि कोई कहे कि 'सैंधवमानय' तो वहाँ पर सैंधव का अर्थ नमक ही लिया जायगा, घोड़ा नहीं। "मरु में जीवन दूरि है कहैं जानियत नीर।" "भात्यत्र परमेश्वरः" यहाँ अत्र शब्द द्वारा देश निर्दिष्ट कर देने से परमेश्वर का अर्थ राजा ही लिया जायगा।

काल—चित्तभानुर्विभाति। दिन में चित्तभानु का अर्थ सूर्य्य लिया जायगा न कि अग्नि। यदि रात के समय कोई कहे—क्या उज्ज्वल चाँदनी है! तो चाँदनी का अर्थ चंद्रमा की रोशनी ही लिया जायगा, न कि बिछाने की चाँदनी या चाँदनी का फूल। "कुवलय निशि फूल्यो कहैं कुमुद घोस जनु जात।"

व्यक्ति लिंग—मित्रो भाति। यहाँ मित्र का अर्थ सूर्य्य ही लिया

जायगा; क्योंकि मित्र जब पुल्लिंग होता है, तब उसका अर्थ सूर्य्य होता है।

स्वर—इंद्रशत्रुः—इसमें स्वर के भेद से दो अर्थ हो जाते हैं। यदि इंद्र शत्रु के अंतिम अक्षर को उदात्त बनाते हैं, तो यह षष्ठी तत्पुरुष हो जाता है और इसका अर्थ होता है—इंद्र का शत्रु वा मारनेवाला। और यदि इंद्रशत्रु के पूर्व पद के अंतिम अक्षर को उदात्त बनाते हैं, तो यह बहुव्रीहि समास बनता है और इसका अर्थ होता है—वह जिसका शत्रु वा मारनेवाला इंद्र है। इसी के संबंध में निम्न लिखित श्लोक प्रचलित है—

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेंद्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

और—बाजी भली सुबाँसुरी बाजी भली तुरंग।

इसी प्रकार मीमांसकों ने भी वाक्य के अर्थ लगाने के नियम लिखे हैं। परंतु इनके लिखने से पुस्तक का आकार बढ़ जायगा *।

इन सब बातों का विचार करना इसलिये आवश्यक है कि भाषा का अर्थ ठीक न समझने के कारण बड़ा वाद-विवाद उठ खड़ा होता है। तर्क शास्त्र में यह बात परमावश्यक है कि शब्द का जो अर्थ निश्चित कर लिया जाय, वही अर्थ अंत तक लगाया जाय। अनेकार्थता के कारण कई कई तर्काभास भी हो

* उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥

जाते हैं। शब्द-प्रकरण के संबंध में विचार करते हुए भारतीय तार्किकों ने भाषा के हिसाब से शब्दों की वाचकता का अच्छा वर्णन किया है। उन्होंने शब्द की वृत्ति दो प्रकार से मानी है—एक शक्ति और दूसरी लक्षणा। पद के असली अर्थ को शक्ति कहते हैं। शक्ति के अनुसार शब्द चार प्रकार के होते हैं—(१) यौगिक, (२) रूढ़ि, (३) योगरूढ़ि और (४) यौगिक रूढ़ि। योग प्रकृति प्रत्यय की शक्ति को कहते हैं—अवयव शक्तियोगः। यत्रावयवार्थं एव बुध्यते तद्यौगिकम्। पाचक, घातक इत्यादि यागिक शब्द हैं। इनका अर्थ धातु और प्रत्यय के अनुकूल लगाया जाता है। पच से पाचक, हन् से घातक होता है। समुदाय शक्तिः रूढ़िः। पद के अवयवों के समुदाय में रहनेवाली शक्ति रूढ़ि कहलाती है। यह शक्ति किसी अवयव विशेष में नहीं रहती, वरन् उनके समुदाय में रहती है। घट, पट आदि शब्द रूढ़ि हैं। यत्रावयवशक्ति नैरपेक्षेण समुदाय शक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रूढ़म्। यह अर्थ पूरे शब्द के होते हैं। कुरसी, मेज आदि शब्द रूढ़ि हैं। योग रूढ़िः, योगार्थ वृत्तिः रूढ़िः। यत्र त्ववयवशक्ति विषये समुदाय शक्तिरप्यस्तितद्योगरूढ़ं। योग रूढ़िः। जो रूढ़ि शक्ति अवयवों के अर्थ में रहती है, वह योग-रूढ़ि कहलाती है। पंकज योगरूढ़ि शब्द है। इसमें शब्द के अवयवों की शक्ति में रूढ़ि लगाई जाती है। पंकज शब्द का अर्थ कीच में उपजनेवाला है। कीच में उपजनेवाले बहुत से पदार्थ हैं; किन्तु रूढ़ि से पंकज कमल ही को कहते हैं।

यौगिक रूढ़ि—योगार्थ भिन्नार्थ वृत्तिः रूढ़िः । यत्रावयवार्थरूढ्यर्थयोः स्वातंत्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढ़म् यौगिक रूढ़ि। योग शक्ति के अर्थ से भिन्न रहनेवाली रूढ़ि शक्ति को यौगिक रूढ़ि शक्ति कहते हैं। यौगिक रूढ़ि शब्दों में दो अर्थ रहते हैं—एक यौगिक और एक रूढ़ि। योगरूढ़ि में यौगिक अर्थ को रूढ़ि अर्थ दबा लेता है; यौगिक रूढ़ि शब्दों में दोनों अर्थ पृथक् पृथक् रहते हैं। योग अर्थ से तो उद्भिद् शब्द का अर्थ ज़मीन को फोड़कर निकलनेवाली लता, गुल्मादिक है और रूढ़ि अर्थ से इसका अर्थ एक प्रकार का यज्ञ है।

लक्षणा—शक्य सम्बन्धोः लक्षणा। शक्य और लक्ष्य अर्थ का जो सम्बन्ध है, उसको लक्षणा कहते हैं। नीचे के श्लोक में लक्षणा का अच्छा लक्षण दिया है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥

—काव्यप्रकाश।

लक्षणा शब्द की उस वृत्ति का नाम है जिसके द्वारा मुख्यार्थ को न लगाने पर और किसी रूढ़ि वा प्रयोजन के लिये मुख्यार्थ वा आरोपित अर्थ का संबंध करने के लिये मुख्यार्थ से भिन्न कोई दूसरा अर्थ आरोपित किया जाता है। संक्षेप से इसका अभिप्राय यह है कि मुख्यार्थ से मतलब न निकलने के कारण ऐसा दूसरा अर्थ लगाया जाय जिससे वाक्य का आशय भी प्रकट हो जाय और मुख्यार्थ से भी बहुत

दूर न जाना पड़े। गंगायां घोषः का "गंगा में गाँव" शब्दार्थ है; किंतु इस शब्दार्थ में विरोध है। यदि गंगा में गाँव हो, तो वह वहाँ किस तरह ठहर सकता है! इसलिये इसका आरोपित अर्थ यह लगाया जाता है कि गंगा के निकट या तट पर बसा हुआ ग्राम। लक्षणा का संबंध बहुधा वाक्य के शब्दों से है; शक्ति का संबंध केवल शब्दों से ही है। लक्षणा कई प्रकार की होती हैं, किंतु उनका यहाँ वर्णन करना असंगत हो जायगा। काव्य-वालों ने एक और वृत्ति मानी है—'व्यंजना'। काव्यप्रकाश में शब्दों का इस प्रकार वर्णन किया है—

स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।
वाच्यादयस्तदर्थाः स्युस्तात्पर्य्यार्थोऽपि केषुचित् *॥

व्यंजना उस वृत्ति को कहते हैं जिसके द्वारा मुख्यार्थ के अतिरिक्त और दूसरा अर्थ जो कि उसमें छिपा होता है, निकले। जहाँ पर व्यंजना से अर्थ लगाया जाता है, वहाँ पर मुख्यार्थ बाधित नहीं होता। जैसे किसी से यह न कहकर कि आप जाइए, यह कहा जाय कि अब तो आपके भोजन का समय आ चला या अब तो शाम हो गई। इन वाक्यों का व्यंजित अर्थ यही है कि अब आप जाइए।

गंगायां घोषः, गंगा में गाँव यह शब्दार्थ है। गंगा के किनारे वाला गाँव यह लक्षणा हुई। इससे एक और अर्थ

---

* अर्थ—शब्द तीन प्रकार के होते हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक। इसी प्रकार उनके अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य नामक त्रिविध होते हैं। परंतु कोई कोई चौथा तात्पर्यार्थ भी मानते हैं।

निकलता है कि गाँव में ठंढक होगी, यह व्यंजना हुई।

तात्पर्यार्थ—जो लोग तात्पर्यार्थ को मानते हैं, उनका कहना है कि प्रत्येक शब्द के वाच्यार्थ के अतिरिक्त एक और अर्थ उस वाक्य के संबंध से होता है जिसमें कि वह शब्द आता है। घड़ा भर लाओ; घड़ा मिट्टी का बनता है; घड़ा फूट गया; घड़ा भारी है; इन वाक्यों में से प्रत्येक वाक्य के घड़े का अर्थ भिन्न है। पहले वाक्य में घड़े का अर्थ उसके उद्देश्य के साथ लगाना पड़ेगा। दूसरे वाक्य में उसकी उत्पत्ति की दृष्टि से लगाना पड़ेगा, इत्यादि। इस संबंध में मीमांसकों के दो मत हैं। एक कुमारिल भट्ट का जो कि अभिहितान्वयवादियों के नाम से विख्यात है, और दूसरा मत प्रभाकर गुरु का है। यह मत अन्विताभिदानवादियों का है। ऊपर जो मत दिया है, वह अभिहितान्वय वादियों का है। अन्विताभिदान-वादियों का कहना है कि पदों का अर्थ वाक्य के ही संबंध में लग सकता है। ये लोग पदों का कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं मानते। अभिहितान्वयवादी लोग पद का एक स्वतंत्र अर्थ मानते हैं, और दूसरा वाक्य के संबंध में।

वस्तुवाचकता (Denotation) और गुणवाचकता (Connotation)—अँगरेज़ी तर्क ग्रन्थों में शब्दों की शक्ति वा वाचकता दो प्रकार की मानी गई है—एक वस्तु-वाचकता और दूसरी गुणवाचकता। न्याय दर्शन में जो इस विषय पर झगड़ा उठाया गया है, वह ऊपर बताया जा चुका है।

शब्द को कोई व्यक्तिवाचक मानते हैं और कोई जाति के वाचक मानते हैं। जाति-वाचकता और गुणवाचकता प्रायः एक ही है।

शब्द की वस्तु-वाचकता वा अभिधा के अनुकूल उन व्यक्तियों को बतलाया जाता है, जो उस शब्द द्वारा पुकारे जाते हैं। गुणवाचकता के अनुकूल शब्द उन गुणों का बोधक होता है जो कि व्यक्ति के जातीय गुण कहलाते हैं। मनुष्य की वस्तु वाचकता के अनुकूल अर्थ सोहन, मोहनादि व्यक्ति हैं जो इस नाम से पुकारे जाते हैं। गुणवाचकता के अनुकूल जो अर्थ लगाया जायगा, उसमें जीवधारी होना, विचार शक्ति-संपन्नता इत्यादि गुण आ जायँगे। तर्क शास्त्र का एक नियम है कि जिस शब्द की वस्तुवाचकता अधिक है, उसकी गुणवाचकता कम है; और जिसकी गुणवाचकता अधिक है, उसकी वस्तु-वाचकता कम है। 'जीवधारी' शब्द की वस्तुवाचकता वा व्याप्ति बढ़ी हुई है; क्योंकि मनुष्य, पशु, पक्षी सभी जाति के व्यक्ति इसके अंतर्गत हैं; किंतु उसकी गुणवाचकता कम है।

वस्तु
।
द्रव्य
।
ऐन्द्रिक द्रव्य
।
सजीव ऐन्द्रिक द्रव्य
।
मनुष्य
।
भारतवासी
।
पंजाबी

ऊपर के नकशे में जैसे जैसे नीचे उतरते जायँगे, वैसे वैसे शब्दों की गुणवाचकता बढ़ती जायगी और वस्तुवाचकता घटती जायगी। और इसी के विपरीत जैसें जैसे ऊपर चढ़ते जायँगे, वैसे ही शब्दों की वस्तुवाचकता बढ़ती जायगी। शब्दों की गुणवाचकता और वस्तुवाचकता की घटती बढ़ती एक दूसरे के प्रतिकूल है। यदि एक की घटती होती है, तो दूसरे की बढ़ती; और एक की बढ़ती होती है, तो दूसरे की घटती।

इस घटती बढ़ती के संबंध में दो तीन बातें विचारनें योग्य हैं। सब से पहले तो यह नियम उन्हीं शब्दों के लिये प्रयुक्त होता है जिनका संबंध आपस में जाति और उपजाति का होता है। अर्थात् जब एक छोटा वर्ग किसी बड़े वर्ग के भीतर आता हो, तो छोटे वर्ग की गुणवाचकता अधिक होगी और व्याप्ति कम। इसी प्रकार बड़े वर्ग की वस्तुवाचकता अधिक और छोटे वर्ग की गुणवाचकता कम होगी। इसी भाँति छोटे और बड़े वर्गों की गुणवाचकता और वस्तुवाचकता घटती और बढ़ती जायगी। किन्हीं दो शब्दों के लिये यह बात आवश्यक नहीं कि यदि एक की गुणवाचकता दूसरे से कम है, तो उस दूसरे शब्द की अपेक्षा उसकी वस्तुवाचकता भी अधिक हो। फिर इसकी घटती बढ़ती का भी कोई स्थिर नियम नहीं। किसी एक गुण के जोड़ देने से वस्तुवाचकता बहुत ही घट जाती है और किसी गुण के जोड़ने से वस्तुवाचकता में बहुत ही थोड़ी कमी आती है। भारतीय कवि में एक गुण

"जोड़ने से कि जिसने नोविल पुरस्कार पाया हो" उस शब्द की वाचकता इतनो घट जातो है कि वह केवल एक ही व्यक्ति पर प्रयुक्त होगा। जानवरों में जरायुज शब्द के जोड़ देने से जानवर शब्द की इतनी वस्तुवाचकता नहीं घटती जितनी विचार शक्ति-संपन्न गुण लगाने से घटती है।

किसी वर्ग के व्यक्तियों की संख्या के घटने वा बढ़ने से उस शब्द की वस्तुवाचकता घटती या वढ़ती नहीं। यदि किसी प्रकार से मनुष्य समाज में जन-संख्या घट या वढ़ जाय, तो मनुष्य शब्द की वस्तुवाचकता न घटेगी न वढ़ेगी। जब तक किसी वर्ग में और वर्ग शामिल न हो जाय, तव तक उसकी वस्तुवाचकता न वढ़ेगी। इसी प्रकार जब तक किसी ऐसे गुण के आधार पर किसी वर्ग का विभाग न किया जाय कि वह गुण वर्ग के एक भाग में पाया जाय और दूसरे भाग में न पाया जाय, तब तक गुण-वाचकता की वृद्धि न होगी। यदि रसायन शास्त्र का कोई पंडित किसी प्रकार धातुओं का कोई ऐसा नया गुण निकाले जो सब धातुओं में पाया जाय, तो धातुओं की वस्तुवाचकता न घट जायगी। कई तार्किकों ने इस मूल नियम पर भी शंका उठाई है। उस शंका में सत्य का वहुत कुछ अंश है। उपजाति की अपेक्षा जाति की वस्तु-वाचकता अवश्य वढ़ी हुई होती है। क्या इसी के साथ जाति की गुणवाचकता उपजाति की गुणवाचकता से कम होती है? क्या जीवधारी के विचार में मनुष्य के विचार की संभावना

नहीं? और क्या मनुष्य के विचार में तार्किक वा कवि के विचार की गुंजाइश नहीं ? मनुष्य का विचार विस्तृत है, तो उसमें और सब विचारों के लिये स्थान हैं। जाति उपजातियों से वाहर नहीं रहती। उपजातियाँ ही मिलकर जाति बन जाती हैं। फिर गुणों में जाति की न्यूनता किस प्रकार से कह सकते हैं ? जाति में संभव गुणों की अधिकता होती है। उपजाति के गुण निश्चित होते हैं; परंतु वे संकुचित होते हैं। निश्चित होने के ही कारण उनका वृत्त संकुचित हो जाता है। यह भेद शब्दों में ही हो सकता है। वास्तव में जाति उपजातियों से कोई अलग पदार्थ नहीं। जब बालक वा विद्यार्थी का ज्ञान विस्तार पाता है और उसके लिये रेल का इंजिन इंजिन नहीं रहता, वरन् इंजिन के विचार में चलनेवाले और अस्थिर दोनों आ जाते हैं, और फिर उसे मोटर और स्टीम के नाना प्रकार के इंजिनों का ज्ञान हो जाता है, तब उस बालक वा विद्यार्थी का इंजिन जाति का ज्ञान गुण-शून्य नहीं होता। जाति के विचार में उपजातियों के गुण संभव रूप से वर्त्तमान रहते हैं; इसी से संभावना में जाति की गुणवाचकता बढ़ी है और निश्चयता में उपजाति की। गुणवाचकता और वस्तुवाचकता की घटती बढ़ती का नियम बिल्कुल निर्मूल नहीं है। निश्चित गुणों में उपजाति की गुणवाचकता बढ़ी हुई होती है। इसके साथ ही यह बात भी स्मरण रखना आवश्यक है कि हम विचार के

सुभीते के लिये केवल जाति के गुणों पर ही विचार करते हैं। जब हम त्रिभुज के तीन कोणों को दो समकोणों के बराबर साबित करते हैं, तब हमको त्रिभुज की भुजाओं से कोई प्रयोजन नहीं रहता। जाति और उपजाति अन्योन्याश्रयी शब्द हैं। एक जाति अपने से अधिक व्याप्तिवाली जाति के संबंध में उपजाति है। यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि अधिक व्याप्तिवाली जाति के संबंध में थोड़ी व्याप्तिवाली जाति के कुछ निश्चित गुण होंगे। वे निश्चित गुण उससे थोड़ी व्याप्तिवाली जाति (उपजाति) के निश्चित गुणों की अपेक्षा कम होंगे। यही वस्तुवाचकता के बढ़ने से गुणवाचकता की घटती का आधार है*।

गुणवाचक और अगुणवाचक शब्द
(Connotative and Non-Connotative terms)

शब्दों की गुणवाचकता और वस्तुवाचकता के आधार पर पदों का एक और विभाग किया गया है। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ वस्तुवाचकता और गुणवाचकता दोनों ही के अनुकूल लगाया जाता है; और कुछ शब्द ऐसे माने गए हैं, जिनका अर्थ गुणवाचकता के अनुकूल नहीं लग सकता। गुणवाचक पद वह शब्द हैं जो एक जाति के व्यक्तियों पर

---

* यदि यह प्रकरण अच्छी तरह समझ में न आवे तो वाच्यधर्म वा अविधेय विषयक अध्याय के पढ़ने के बाद दोबारा पढ़ा जाय।

प्रयुक्त होते हुए कुछ गुणों में अपने प्रयुक्त होने का कारण रखते हों और जो शब्द अपनी वाचकता का किसी गुण में कारण न रखते हों, वे अगुणवाची हैं। मिल साहब ने व्यक्तिवाचक नामों को और व्यक्ति-गुणों को, जैसे लंबाई चौड़ाई (अर्थात् वह भाववाचक शब्द जो व्यक्तिवाचक हैं) को, अगुण-वाचक शब्द माना है। भाववाचक शब्दों में वस्तुवाचकता और गुणवाचकता दोनों ही होती हैं; किंतु वह एक दूसरे से पृथक् नहीं होतीं। लंबाई शब्द से एक व्यक्ति गुण की सूचना मिलती है। यही उसकी वस्तुवाचकता है और वह व्यक्ति स्वयं गुण होने के कारण अपने नाम का स्वयं ही कारण है। लंबाई का भाव एक है; किंतु वह एक ऐसे गुण से संबंध रखता है जो बहुत से पदार्थों में पाया जाता है। लंबे पदार्थ लंबाई ही के कारण लंबे कहलाते हैं। लंबाई कोई अस्थिर भाव नहीं। लंबाई ही को लंबाई कहते हैं, गोलाई को नहीं। भाववाचक शब्दों की गुणवाचकता में शंका करना भूल है। भाववाचक शब्द व्यक्तिवाचक हैं; उनमें जातिवाचक शब्दों की सी गुण-वाचकता नहीं है, किंतु उनमें गुणवाचकता का नितांत अभाव मानना ठीक नहीं। यही हाल व्यक्तिवाचक नामों का है। व्यक्तिवाचक नामों में जातिवाचक नामों की सी गुणवाचकता नहीं है। जहाँ उनमें जातिवाचक नामों की सी गुणवा-चकता होती है, वहाँ वे व्यक्तिवाचक नहीं रह जाते। जब कालिदास का अर्थ अच्छा कवि लगाया जाता है, तब वह

व्यक्तिवाचक नहीं रहता। यद्यपि यह बात ठीक है कि सब पूर्णचंद्र गोरे नहीं होते और न एक नामवाले एक से गुण रखते हैं, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्तिवाचक नामों का कुछ अर्थ नहीं अथवा वह किसी गुण के द्योतक नहीं होते। साधारणतया नामों से बहुत सी बातों का ज्ञान हो जाता है। नाम से देश और धर्म का ज्ञान प्रायः हो ही जाता है। जब शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास इत्यादि उपाधियाँ लगी होती हैं, तब जाति भी मालूम हो जाती है। बहुत से स्थानों में नामों से उस व्यक्ति के घरवालों के धार्मिक संप्रदाय का भी पता लग जाता है। रामावतार के उपासकों में प्रायः श्री रामचंद्र जी के संबंध के नाम रक्खे जाते हैं और कृष्णावतार के उपासकों में कृष्ण भगवान के संबंध के नाम होते हैं। प्रत्येक नाम के साथ बहुत से गुण लगे होते हैं, जो उस नाम के जाननेवाले उसके साथ उन गुणों को अपने मन में लगा रखते हैं। जब हम किसी मनुष्य का वर्णन सुनते हैं, तब हम वर्णन करनेवाले से पूछने लगते हैं कि उस मनुष्य का अमुक नाम तो नहीं था। प्रायः उस वर्णन से नाम मिल भी जाता है। यही व्यक्तिवाचक नामों की गुणवाचकता है। बहुत से नामों में उनके नामकरण का कारण भी लगा होता है। पंजाब—पाँच नदियों के कारण पंजाब कहलाता है। त्रिवेणी—तीन नदियों के संगम के कारण त्रिवेणी कहलाती है। बनारस-वर्णा और असी के संबंध से बनारस

कहलाता है। प्राचीन ग्रंथों में जो बहुत से नाम आते हैं, वे प्रायः सार्थक वा गुणवाचक हैं—जैसे शूर्पनखा, त्रिजटा, त्रिपुरारि, परशुराम, प्रभृति। प्रायः उपाधि वा पदवी व्यक्तिवाचक नाम से मिल जाती है। लार्ड रीडिंग और भारतवर्ष के वर्त्तमान वाइसराय एक ही व्यक्ति हैं; किंतु भारतवर्ष के वर्त्तमान वाइसराय की गुणवाचकता उसके लिये भी स्पष्ट है जिसने लार्ड रीडिंग का नाम न सुना हो। विशेष नामों और उपाधियों में इतना अंतर अवश्य मानना पड़ेगा। विशेष नाम जाननेवाले के लिये ही अर्थ रखते हैं। वैसे साधारण नाम भी जाननेवालों के ही लिये अर्थ रखते हैं। किंतु अंतर यह है कि साधारण नामों का अर्थ निश्चित होता है; उनके गुण स्थिर होते हैं। विशेष नामों का अर्थ होता अवश्य है, किन्तु वह अनिश्चित होता है। हम व्यक्तियों के नामों को चाहे अगुणवाचक संज्ञा में रख लें, किंतु हमको इस बात का अवश्य ध्यान रखना पड़ेगा कि यह नाम, जैसा कि समझा जाता है, बिलकुल निरर्थक नहीं है। यद्यपि मम्मट ने काव्यप्रकाश की वृत्ति में संज्ञा (व्यक्ति के नाम को) वक्तृयदृच्छासन्निवेशित अर्थात् वक्ता की इच्छा से लगाई हुई उपाधि माना है, तथापि संज्ञा में भी जाति की सम्भावना मानी गई है; अर्थात् संज्ञा में भी जाति हो सकती है। शिवदत्त जैसा एक वर्ष के बालक की अवस्था में था, वैसा जवानी में नहीं; और यदि वैसा ही जवानी में था, तो शिवदत्त कोई ऐसा अनुगत गुण है जो शिवदत्त में हर समय था। यह उसकी गुण-

वाचकता है—"बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणंभिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वमस्तीतिसर्वेषां-शब्दानां जातिरेव प्रवृत्ति निमित्तं इत्यन्ये"। यद्यपि लेखक डित्थ शिवदत्त आदि में डित्थत्व और शिवदत्तत्व जाति मानने की हद तक जाने को तैयार नहीं, तथापि नामों को बिलकुल अगुणवाची भी नहीं मान सकता।

तीसरे अध्याय पर अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) पद किसे कहते हैं? न्याय शास्त्र के अनुकूल पद की परिभाषा बतलाइए। तर्क शास्त्र में पदों की विवेचना करने की क्या आवश्यकता है? कौन से शब्द पद कहे जा सकते हैं?

(२) शक्ति किसे कहते हैं? इस विषय में नवीन और प्राचीन नैयायिकों का मत-भेद बतलाइए। शब्द की शक्ति जानने के क्या क्या साधन माने गए हैं? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।

(३) युरोपीय तर्क के अनुकूल नीचे लिखे हुए पदों की संज्ञाएँ बतलाइए—

काला, स्कूल, आगरा, कालिज, आत्मा, धर्म, लम्बाई, संस्कृत भाषा के आदि कवि, वालमीकि, पंजाब, पुस्तक, राजा, भारतवर्ष के वर्तमान सम्राट्, पत्थर, सेना, अन्धा, देवदत्त, भारत-सम्राट्, निराहारी, पद, श्वेत, जरा, पुत्र, देवता, आधा, मधु।

(४) क्या समुदायवाचक शब्द जातिवाचक हो सकते हैं? उदाहरण दीजिए।

(५) युरोप में जातिवाचक शब्दों के विषय में जो तीन मत प्रचलित हैं, उनकी व्याख्या कीजिए और उसी के साथ न्याय-दर्शन में जो जाति और व्यक्ति के विषय में विवाद है, वह बतलाइए।

(६) व्याघातक शब्द किनको कहते हैं और उनका विपरीत शब्दों से क्या अन्तर है ?

(७) अनेकार्थ शब्दों के अर्थ निश्चित करने की जो विधियाँ साहित्य ग्रंथों में बतलाई हैं, उनमें से कुछ उदाहरण देकर बतलाइए।

(८) शब्द की कितने प्रकार की शक्ति बतलाई गई है ? न्याय शास्त्र और साहित्य ग्रंथों में इस विषय में क्या भेद है ?

(९) नीचे लिखे हुए शब्दों में से कौन से यौगिक और कौन से रूढ़ि हैं—

अँगरखा, टोपी, अँगोछा, पीपल, दियासलाई। योग रूढ़ि और यौगिक रूढ़ि शब्दों में अन्तर बतलाइए।

(१०) शब्दों की गुणवाचकता और वस्तुवाचकता वा किसे कहते हैं ? इनकी परस्पर घटती बढ़ती का जो नियम है, वह बतलाइए और उसके साथ विवेचना भी कीजिए। व्यक्तिवाचक नाम किस अंश से गुणवाचक वा सार्थक कहे जा सकते हैं ?

चौथा अध्याय

तार्किक वाक्य

तार्किक वाक्य मानसिक निर्णय का शाब्दिक व्यंजन है। मानसिक निर्णय भाषा में कई रूप धारण कर सकता है, किंतु परंपरा-प्राप्त आकारिक तर्क शास्त्र में उसको एक विशेष रूप दे रखा है। उस रूप के अनुकूल उसमें तीन पद होते हैं—एक उद्देश्य पद, एक विधेय पद और एक संयोजक पद। जिसके विषय में कुछ कहा जाय, वह उद्देश्य है। जो कुछ कहा जाय, वह विधेय है। संयोजक इन पदों का योग करनेवाल कहा जाता है। मनुष्य नाशवान् है, इसमें 'मनुष्य' उद्देश्य (Subject) 'नाशवान्' विधेय (Predicate) और है संयोजक (Copula) है। संयोजक शब्द बड़ा भ्रम में डालनेवाला है। इससे लोगों को यह खयाल हो जाता है कि लक्ष्य पद में विधेय पद रेल की गाड़ियों की भाँति जोड़ दिया जाता है। अँग्रेजी भाषा की रचना ऐसी है कि यह संयोजक पद बीच में आता है और इस विचार को पुष्ट कर देता है। हिंदी उर्दू में यह पद पीछे आता है। संस्कृत में विभक्तियों के होने के कारण संयोजक पद वैसे चाहे किसी स्थान में आ जाय, किंतु प्रायः पीछे ही आता है। चीनी भाषा में इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

भाषामें वाक्य की मुख्यता

वास्तव में जब किसी पद को विधेय का नाम दे दिया गया तो निर्णय पूरा हो गया। फिर संयोजक की आवश्यकता नहीं। किंतु भाषा में संयोजक से यह लाभ है कि वह लक्ष्य और विधेय की एकता बतलाता है। वह एकता का बनानेवाला नहीं, किंतु उसका द्योतक है। वास्तव में इन पदों का वह संबंध नहीं है जो कि आकारिक तर्क शास्त्र बतलाता है। इस प्रकार का संबंध मानने से आकारिक तर्क शास्त्र को बहुत लाभ हुआ है। इससे अनुमान में जो सुभीता होता है, वह आगे दिखलाई पड़ेगा। हम को भी इस प्रकार के विन्यास से विशेष हानि नहीं। हमको केवल इस बात के लिये सचेत रहना चाहिए कि हमारे मन की स्थिति वास्तव में ऐसी नहीं है और न यह पदों का वास्तविक संबंध है। वास्तव में ऐसा नहीं है कि पद पहले से पड़े रहते हैं और पीछे से संयोजक द्वारा उनका योग किया जाता है। पद तो वाक्य ही के सम्बन्ध में होते हैं। यदि वाक्य नहीं, तो पद नहीं। उद्देश्य और विधेय का आधार एक ही सत्ता है। निर्णय द्वारा धर्मी के किसी धर्म को समय की आवश्यकता के अनुकूल प्रधानता दे दी जाती है। सब निर्णय वास्तविक सत्ता के विषय में होते हैं। निर्णय एक प्रकार से सत्ता का विधेय है। जब हम कहते हैं कि अमुक उपन्यास का अमुक पात्र बड़ा दुराचारी है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि अमुक पात्र वास्तव में स्थिति रखता है। उसकी स्थिति अवश्य है; पर वास्तविक सत्ता में नहीं, बल्कि मानसिक सत्ता में, उपन्यासों

की सत्ता या कल्पना में है। कोई पदार्थ सत्ता से बाहर नहीं। जिस प्रकार विचार में निर्णय ही मुख्य है, उसी प्रकार भाषा में भी वाक्य ही मुख्य है। वाक्य के ही विश्लेषण से शब्द बनते हैं। बालक एक शब्द बोलते हैं, तो वह भी पूरा वाक्य ही होता है। वाक्य के लिये तीन पदों की ही आवश्यकता नहीं। "अरे आग" ! यह भी वाक्य है। "चलो !" यह भी वाक्य है। ये सब तार्किक वाक्य तो नहीं हैं, किन्तु इनको तार्किक वाक्य का रूप दिया जा सकता है। रूप की एकाकारिता से बड़ा लाभ और सुभीता होता है; इसलिये प्राचीन प्रथा को तोड़ना ठीक नहीं। भाषा में वाक्य को ही मुख्यता है। एक शब्द का कुछ अर्थ नहीं होता है। केवल देवदत्त' कहने से कुछ सिद्ध नहीं होता। जब तक 'देवदत्त' के विषय में कुछ न कहा जाय, तब तक एक पद निरर्थक है। 'सोना' कहने से किसी के ज्ञान में वृद्धि नहीं होती। सोने के साथ कुछ अवश्य कहना चाहिए। सोना है, सोना मूल्यवान् है, सोना चमकता है, सोने के जेवर बनते हैं, आदि कहा जाय तभी कुछ विचार किया जा सकता है। यदि भाषा को विचार का व्यंजक मानते हैं, तो वाक्य ही पहले है। और यदि भाषा को जीते जागते संबंध में न देखकर अप्राकृतिक दृष्टि से देखें, तो शब्द और अक्षर ही पूर्व हैं। मीमांसकों में अन्विताभिधानवादी (अन्वितानि पदानि एव अभिदृत्ते इति सः) का कहना है कि पद वाक्य के संबंध में ही अर्थ दे सकते हैं। व्याकरणाचार्य्य

श्री नागोजी भट्ट ने भी अपने मंजूषा नामक ग्रंथ में 'वाक्य-स्फोट' को मुख्य माना है *। "तत्र वाक्यस्फोट मुख्यस्तस्यैव लोकेऽर्थबोधकत्वात्"। संसार में वाक्य ही अर्थ का बोधक होता है, शब्द नहीं। इस संबंध में इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि व्याकरण के वाक्य और तार्किक वाक्य में थोड़ा अंतर है। कभी, कभी व्याकरण के वाक्य में दो उद्देश्य हो जाते हैं, पर तार्किक वाक्य में नहीं। सब वाक्य व्याकरण के वाक्य हैं, किन्तु सभी वाक्य तार्किक नहीं। सब तार्किक वाक्य व्याकरण के वाक्य हैं, किन्तु व्याकरण के सभी वाक्य तार्किक वाक्य नहीं।

वाक्य के कई प्रकार से भेद किए जाते हैं। इनमें से कुछ भेद आकार संबंधी हैं और कुछ विषय संबंधी। पहले

वाक्यों के भेद

आकार संबंधी भेद बतलाए जाते हैं। इनमें सब से पृथक् भेद तो निरपेक्ष (Catagorical) और सापेक्ष (.Conditional) का किया जाता है। निरपेक्ष वह है जिसको किसी और वाक्य की अपेक्षा नहीं; अर्थात् जिसमें जो बात कही जाती है, वह बिना किसी शर्त्त के की जाती है। सापेक्ष वह वाक्य है जिसमें एक कथन किसी दूसरे कथन की अपेक्षा करता हो; अर्थात् जिसमें कोई बात

---

* स्फुटति अर्थो यस्मात्। स्फोटः स्फोट एक प्रकार की शक्ति मानी है जिसके द्वारा अर्थ का उदय होता है। यह अर्थ तब तक नहीं होता, जब तक कि शब्द का आखिरी अक्षर उच्चरित न हो जाये।

किसी दूसरी बात के होने या न होने पर निर्भर हो। सापेक्ष वाक्यों का फिर एक और विभाग किया जाता है—काल्पनिक वा अभ्युपगत् (Hypothetical)। वैकल्पिक (Disjunctive) काल्पनिक वाक्य, यद्यपि साधारण सिद्धान्तसूचक होने के कारण निरपेक्ष साधारण पूर्ण व्याप्तिवाले भावात्मक वाक्य का वास्तविक स्वरूप है, तथापि उसको काल्पनिक ही कहेंगे; क्योंकि उसका वास्तविक सत्ता से अव्यवहित संबंध नहीं है। अगर नौ मन तेल हो तो राधा नाचें। लेकिन मुमकिन है कि न नौ मन तेल हो और न राधा नाचें। अगर गरम तेल में हाथ दोगे, तो हाथ जल जायगा। मुमकिन है कि इस बात को सुनकर फिर तेल में हाथ न दिया जाय और यह बात कभी सत्य न हो। इसका सत्ता से संबंध ऐसा ही है जैसा सिद्धान्तों का। जो लोग (ब्रेडले प्रभृति) सत्ता को तार्किक रूप देते हैं, वे ऐसे वाक्यों को सत्ता संबंधी कहते हैं; और जो व्यवहारात्मक सत्ता मानते हैं, वे इन वाक्यों और निरपेक्ष वाक्यों में भेद करेंगे। काल्पनिक वे वाक्य होते हैं जिनमें एक बात किसी दूसरी बात के होने पर निर्भर हो। जैसे, यदि पानी न बरसा, तो मैं आऊँगा। मेरा आना पानी न बरसने पर निर्भर है। इस वाक्य में पहले भाग को पूर्ववर्ती (Antecedent) और दूसरे को अनुवर्ती (Consequent) कहेंगे। वैकल्पिक वह है जिसमें दो या अधिक कल्पनाओं में से कोई एक सत्य मानी जाती है। इसमें एक कल्पना की सत्यता दूसरी कल्पना के झूठे होने पर निर्भर है।

वह मनुष्य या तो घर का अमीर है या रिश्वत लेता है। यहाँ उसके रिश्वत लेने की सत्यता घर के अमीर न होने पर निर्भर है। काल्पनिक और वैकल्पिक वाक्य साधारण वा निरपेक्ष वाक्यों में परिवर्त्तित हो सकते हैं। यदि पानी बरसा तो जमीन जोती जायगी। इसका साधारण वा निरपेक्ष वाक्य इस प्रकार से बन जायगा—पानी बरसने की वह अवस्था है जिसमें ज़मीन जोती जाती है। संसार में या धन कमा लो या यश। संसार में धन न कमाने की दशा यश कमाने की दशा है; और संसार में यश न कमाने की दशा धन कमाने की दशा है। यद्यपि एक रूप का दूसरे रूप में परिवर्त्तन हो जाता है, तथापि प्रत्येक रूप अपनी अपनी विशेषता रखता है। निरपेक्ष वाक्यों के गुण और परिमाणों के अनुकूल दो दो और विभाग किए गए हैं। गुणों के अनुकूल दो भावात्मक और अभावात्मक और परिमाण में से पूर्ण-व्यापी (Universal), अंश-व्यापी (Particular)। इस प्रकार से निरपेक्ष वाक्यों के चार विभाग हुए। परिमाण के हिसाब से व्यक्ति संबंधी वाक्य (Singular Preposition) नामक एक और विभाग है। इस प्रकार के वाक्यों को प्रायः पूर्ण व्याप्तिवाले मान लेते हैं।

निरपेक्ष वाक्य

पूर्ण व्याप्तिवाले (Universal)	भावात्मक (Affirmative)	ए (A)
	निषेधात्मक (Negative)	ई (E)

अपूर्ण व्याप्तिवाले { भावात्मक (Affirmative) उ (I)
निषेधात्मक (Negative) ओ (O) }

इन वाक्यों को हम सुभीते के लिये ए, ई, उ, ओ का सांकेतिक रूप देते हैं। यह विभाग आकार-वाद के लिये बहुत सुभीते का है, किंतु वास्तव में दोषपूर्ण है। सब मनुष्य नाशवान् हैं; सब धातुएँ ऐसे पदार्थ हैं जो गरम होने से बढ़ते हैं; सब अँग्रेजी के महीने ३२ दिन से कम के होते हैं; इस आल्मारी की सब पुस्तकें गणित संबंधी हैं। ये चारों वाक्य 'ए' की संज्ञा में आवेंगे। इनका आकार एक सा है किंतु ये वास्तव में एक से नहीं हैं। इनमें से पहले दो जाति संबंधी (Generic) हैं और दूसरे गणना संबंधी (Enumerative) हैं। सच्ची व्यापकता गणना संबंधी वाक्यों की नहीं होती; जाति संबंधी वाक्यों को यथार्थ व्यापकता दी जा सकती है। भारतीय तर्क शास्त्रों में पूर्ण व्याप्तिवाले वाक्य का यह रूप है—यत्र यत्र मनुष्यत्वं तत्र तत्र विनाशत्वं। यत्र यत्र धूमत्वं तत्र तत्र वह्नित्वम् ॥ यह रूप ठीक भी है। अस्तु; इस विभाग में सब वाक्यों को एक लाठी से हाँकने के अतिरिक्त यह भी दोष है कि बहुत से प्रकार के वाक्यों को स्थान नहीं मिलता। अयं पुरुषः। इदं घटः,। अहो ! धिक् ! धिक्! इत्यादि इस विभाग में व्यक्ति-संबंधी वाक्य भी 'ए' की संज्ञा में आते हैं। देहली भारत-

वर्ष की राजधानी है। इसमें जो विधेय और उद्देश्य का संबंध है, वह 'मनुष्य नाशवान् है' इस वाक्य में नहीं। इन कठिनाइयों से बचने के लिये हैमिल्टन (Hamilton) साहब ने विधेय पद के भी परिमाण के अनुकूल विभाग किए हैं जो इस प्रकार हैं—उ, उद्देश्य है वि, विधेय है।

A ए—सब उ कुछ वि है I उ—कुछ उ कुछ वि है
U यू—सब उ सब वि है V वी—कुछ उ सब वि है
E ई—कोई उ कोई वि नहीं है O ओ—कुछ उ कोई वि नहीं है
Y वाई—कोई उ कुछ वि नहीं है W डवल्यू—कुछ उ कुछ वि नहीं है

इस विभाग से विशेष लाभ नहीं; क्योंकि विचार में विधेय को गुणवाचक मानते हैं। सर्व-दर्शन-संग्रह के कर्त्ता ने भी दो प्रकार की व्याप्ति मानी है—सम और विषम। जहाँ दोनों पदों की व्याप्ति बराबर हो, वहाँ समव्याप्ति है; और जहाँ न बराबर हो, वहाँ विषम है।

अन्य प्रकार के वाक्य

अनन्यग्राह्य (Exclusive) वाक्य वे हैं जिनमें केवल और 'कोई नहीं' शब्दों द्वारा विधेय पद उद्देश्य से विशेष रूपेण बाँध दिया जाता है। जैसे, मनुष्य ही कवि होते हैं; कवित्व गुण मनुष्य के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। इसका तार्किक रूप सावधानी से कियाजाना चाहिए। इसका तार्किक रूप करते हुए यदि कोई कहे कि मनुष्य कवि होते हैं, तो भूल होगी। इसका रूप इस प्रकार से है—कवि मनुष्य होते हैं; अथवा कोई अमानुष

कवि नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि कवि मनुष्य की संज्ञा से बाहर नहीं पाए जाते; अर्थात् कवि मनुष्य की ही संज्ञाएँ हैं। अनिश्चित वाक्य (Indefinite) वे वाक्य हैं जिनका परिणाम निश्चित न हो; जैसे, चीनी लोग अक्लमंद होते हैं। ऐसे वाक्य में सब, कुछ, कोई आदि परिमाण-सूचक चिह्न नहीं होते। इनको अंशव्यापी मानते हैं।

अपवाद वाक्य (Exceptional Prepositions) वे वाक्य होते हैं, जिनके उद्देश्य पद की व्यापकता में कोई अपवाद हो।

अपवाद वाक्य

"ईश्वर को छोड़कर सब अनित्य हैं।" इसका तार्किक रूप इस प्रकार से हो सकता है—सब अनीश्वर पदार्थ अनित्य हैं। यदि अपवाद कोई निश्चित वस्तु नहीं है, तो वह वाक्य अंशव्यापी समझा जाता है। "कुछ मनुष्यों को छोड़कर इस ग्राम के वासी निर्धन हैं" इसका तार्किक रूप इस प्रकार से होगा—कुछ ग्राम-वासी निर्धन हैं।

पुनरुक्त्यात्मक वाक्य (Tautological) वह वाक्य है जिसका विधेय पद और उद्देश्य पद एक ही हो; जैसे मनुष्य

पुनरुक्त्यात्मक वाक्य

मनुष्य हैं; जो हमने किया सो किया; राम रावण का युद्ध राम रावण का ही युद्ध है। उद्देश्य पद और विधेय पद के एक रहते हुए भी इस पुनरुक्ति से भी कभी कभी थोड़ा अर्थ निकल ही आता है। मनुष्य मनुष्य है, इसका अर्थ यह है कि मनुष्य देवता नहीं और वह भूल कर जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं। राम रावण

का युद्ध राम रावण का ही युद्ध था; इसका अर्थ यह होता है कि उस युद्ध की और किसी से उपमा नहीं हो सकती। यह कहना बिल्कुल ठीक नहीं कि इन वाक्यों से कुछ ज्ञान नहीं होता। अनुवाद वाक्य पुनरुक्ति पूर्ण होते हुए भी सार्थक होते हैं।

शुद्ध (Pure) और विध्यनुकूल (Model)*

विध्यनुकूल वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) निश्चयात्मक-(Necessary) जैसे मनुष्य अवश्य नाशवान् है; (२) साधारण-(Assertoric) जैसे आज धूप तेज है। (३) संदेहात्मक—(Problematic) जैसे शायद सब लोग प्यासे होंगे।

विश्लेषणात्मक वाक्य वह है जिसका विधेय पद उसके

---

* एक यह मत हैं कि साधारण और निश्चयात्मक शुद्ध हैं और शेष दो विध्यनुकुल हैं। साधारण, निश्चयात्मक और संदेहात्मक में भेद किस बात का है ? यह भेद केवल शब्दों का है या वास्तव में है ? यह भेद निर्णय के आधार में है। जब हम केवल निरीक्षण के आधार पर कोई बात कह देते हैं तो वह साधारण वाक्य होता है। जब हमारे कथन के साथ हमारे पास उसकी सिद्धि के भी साधन वर्तमान होते हैं और हम इस बात को दूसरों पर प्रकट भी करना चाहते हैं, तब वाक्य निश्चयात्मक होता है; और जब हमारे कथन का आधार संदिग्ध होता है, तब हम को अपना कथन संदेहात्मक वाक्य में रखना पड़ता है। कथन के आधार में संदिग्धता का कारण कभी अज्ञान होता है और कभी पूर्ण ज्ञान। संदेह के भी और निश्चयता के भी कई दर्जे होते हैं। संदेहात्मक वाक्य असत्य नहीं होते। उनको संदेहात्मक बना देना ही उनकी सत्यता का सूचक है। संदेहात्मक वाक्य अपूर्ण व्याप्तिवाले माने जाते हैं; और साधारण तथा निश्चयात्मक वाक्य पूर्ण व्याप्तिवाले माने जाते हैं। शाब्दिक (Verbal) और वास्तविक (Real) को विश्लेषणात्मक वा वियोजनात्मक (Analytical) और संयोगात्मक (Syrthetical) कहते हैं।

उद्देश्य पद की परिभाषा का कोई अंश होता है। उस शब्द के अर्थ जाननेवाले को ऐसे वाक्य से कुछ अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। जैसे, त्रिभुज वह है जिसकी तीन भुजाएँ होती हैं। जो त्रिभुज को जानता है, वह इस वाक्य से विशेष लाभ नहीं उठा सकता।

विश्लेषणात्मक वाक्य

संयोगात्मक वाक्य वे हैं जिनमें कोई ऐसी नई बात बतलाई जाय जो केवल उद्देश्य पद के ज्ञान से ही मालूम न हो सकती हो; जैसे, त्रिभुज वह है जिसके तीन कोण दो समकोणों के बराबर हों। यह बात ऐसी है जो केवल त्रिभुज शब्द से नहीं निकल सकती। यह भेद वास्तव में ठीक नहीं है। विश्लेषणात्मक वाक्य से भी अज्ञानी के लिये उतना ही ज्ञान होता है, जितना कि संयोगात्मक वाक्यों से; और ज्ञानी के लिये संयोगात्मक वाक्य से भी विशेष लाभ नहीं होता। संयोगात्मक वाक्यों में, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, कहीं बाहर से विधेय पद, उद्देश्य पद में जोड़ नहीं दिया जाता; सभी विधेय पद उद्देश्य पद में सम्मिलित रहते हैं। हर एक वाक्य में विश्लेषण और संयोग दोनों ही क्रियाएँ होती हैं; इसलिये विश्लेषण और संयोग के आधार पर वाक्यों का विभाग करना उचित नहीं जान पड़ता।

संयोगात्मक वाक्य

वाक्यों का विभाग विषय के अनुकूल कई प्रकार से हो सकता है। सब से पहले गुणवाचक वाक्य है। यह वाक्य वह

है जिसके द्वारा कोई गुण बतलाया जाता है; जैसे, दूध सफेद होता है। परिमाण-वाचक वाक्य—वह जिसके द्वारा परिमाण बतलाया जाता है। इसमें गणनात्मक वाक्य भी शामिल हैं। जैसे, इस घर में १० आदमी हैं। ४० सेर का एक मन होता है। सत्ता-सूचक वाक्य वह है जिसके द्वारा केवल सत्ता बतलाई जाय। जैसे, ईश्वर है। इसमें प्रायः संयोजक और विधेय एक ही होता है। तार्किक रूप देने के लिये यह इस प्रकार से अलग किए जा सकते हैं—'ईश्वर है' इसका तार्किक रूप "ईश्वर सत है" हो जायगा।

विषयानुकूल वाक्य-विभाग

कार्यकारण संबंध-सूचक वाक्य—इन वाक्यों द्वारा कार्य्य-कारण संबंध बतलाया जाता है। वैज्ञानिक सिद्धान्त भी इन्हीं वाक्यों द्वारा प्रकाशित किए जाते हैं। गर्मी से पदार्थ बढ़ते हैं। यह वाक्य इसी प्रकार के वाक्य का उदाहरण है।

कार्यकारण संबंध-सूचक वाक्य

उद्देश्यसूचक वाक्य—इन वाक्यों द्वारा किसी घटना का लक्ष्य वा अंतिम उद्देश्य वा कारण बतलाया जाता है। यह कार्य्यकारण संबंध-सूचक वाक्यों से भिन्न नहीं है। इसी से मिलता-जुलता एक और विभाग किया जाता है जो इस प्रकार से है—कुछ वाक्य वर्णनात्मक कहलाते हैं; उनमें किसी घटना का वर्णन होता है। जैसे, सूर्य उदय हुआ, फूल महकता है, बालक खेलता है। कुछ वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें किसी घटना की व्याख्या की जाती है।

उद्देश्यसूचक वाक्य

इनको व्याख्यात्मक वाक्य कहते हैं। जैसे, मेंह बरसने से नदी बढ़ आई है। विषयानुकूल विभाग को पूरा करना बहुत कठिन है; क्योंकि सत्ता और विचार की सीमा बाँधना सुलभ नहीं।

वाक्यों को तार्किक रूप में लाने की कठिनाई

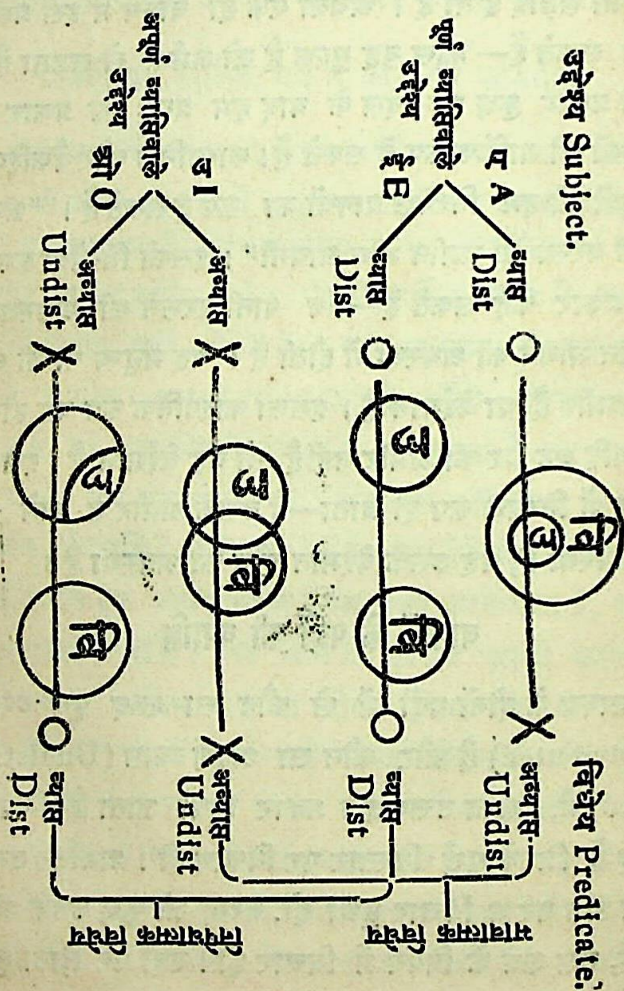
बोल चाल के वह सभी वाक्य तार्किक रूप में नहीं होते। वह हाथी भागा जा रहा है। इसका तार्किक रूप यह होगा—हाथी वह जानवर है जो इस समय भागा जा रहा है। सब आदमी खराब नहीं होते। इसको तार्किक भाषा में "कुछ आदमी खराब नहीं होते" ऐसा कहा जायगा। देवदत्त कल आगरे जायगा। इसको इस प्रकार से कहेंगे—देवदत्त एक मनुष्य है जो कल आगरे जायगा। वह खाता है; वह बाजा बजाता है। इन वाक्यों में "है" संयोजक नहीं, वरन् विधेय का भाग है; इसलिये वाक्य को तार्किक रूप देने के लिये वाक्य का परिवर्तन इस प्रकार करना होगा—वह खानेवाला है, वह बाजा बजानेवाला है। 'वा सोने को जारिये जासों फाटहि कान' इसका तार्किक रूप यह होगा—जिस सोने से कान फटता हो, वह जलाने के योग्य है। 'जाके पाँव फटी न बिवाई। सो का जानै पीर पराई॥' इसका तार्किक रूप यह होगा कि जिस मनुष्य के पैर में बिवाई नहीं फटी होती, वह ऐसा मनुष्य है जो दूसरे की पीर नहीं जानता। जहाँ दो उद्देश्य पदों का योग हो, वहाँ दो वाक्य बनाने पड़ते हैं। "जर्मनी

और फ्रान्स में लड़ाई है" का तार्किक रूप इस प्रकार होगा— ज़र्मनी वह मुल्क है जिसमें लड़ाई होती है, फ्रांस वह मुल्क है जिसमें लड़ाई होती है। अथवा एक ही वाक्य में इस प्रकार रख सकते हैं—'फ्रांस वह मुल्क है जो जर्मनी से लड़ता है।' इसी प्रकार कुछ रद्द-बदल के बाद हम प्रायः इस प्रकार के वाक्यों को तार्किक रूप दे सकते हैं। काल्पनिक और वैकल्पिक वाक्यों को हम निरपेक्ष वाक्यों का रूप दे सकते हैं। "अगर पानी बरसा तो ज़मीन भीग जायगी"। इसको निरपेक्ष रूप में इस प्रकार कह सकते हैं—सब पानी बरसने की अवस्थाएँ ज़मीन भीगने की अवस्था में होती हैं। वह मनुष्य या तो घर का अमीर है या बेईमान है। इसका काल्पनिक रूप यह होगा कि यदि वह घर का अमीर नहीं है, तो वह बेईमान है। इसका सहज में निरपेक्ष रूप हो जाता—है उसके अमीर न होने की जो अवस्था है, वह उसके बेईमान होने की अवस्था है।

वाक्यों के पदों की व्याप्ति

वाक्य के दोनों पदों में से कौन सा शब्द पूर्ण व्याप्त (Distributed) है और कौन सा अपूर्ण व्याप्त (Undistributed) है, इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है। व्याप्त वे पद हैं जिनके पूर्ण विस्तार पर विचार हो। अर्थात् उनके किसी अंश पर न विचार हुआ हो, वरन् जो कुछ उनके अंतर्गत है, उस सब के विषय में विचार हो। यहाँ पर छोटा वृत्त

व्याप्ति का सूचक है और × गुणा का निशान अव्याप्ति का। बड़े वृत्तों में "उ" से उद्देश्य और "वि" से विधेय समझना चाहिए।



सब पूर्ण-व्याप्तिवाले वाक्यों का उद्देश्य पद व्याप्त होता है। सब निषेधात्मक वाक्यों का विधेय पद व्याप्त होता है, क्योंकि उद्देश्य विधेय के किसी अंश को नहीं छूता और हमको पूरे विधेय के बारे में ज्ञान हो जाता है कि उद्देश्य का कोई अंश इसमें नहीं आ सकता।

सब अंश-व्याप्तिवाले वाक्यों का उद्देश्य पद अव्याप्त होता है। सब भावात्मक वाक्यों का विधेय पद अव्याप्त होता है। बहुत से भावात्मक वाक्यों का विधेय पद व्याप्त होता है; किंतु सब वाक्यों में व्याप्त न होने के कारण अव्याप्त ही माना जायगा। हैमिल्टन साहब ने विधेय पद के भी परिमाण निश्चित करने का यत्न किया है; और इस हिसाब से निरपेक्ष वाक्यों के आठ विभाग हो जाते हैं। किंतु यह विभाग-सिद्धांत के विरुद्ध पड़ता है।

वाक्यों का अर्थ (Import of Proposition)

यह बड़ा भारी प्रश्न है कि वाक्यों का अर्थ किस प्रकार से लगाया जाय। इस पर कई मत हैं। कोई कहते हैं कि दोनों पदों की व्याप्ति लेनी चाहिए; अर्थात् उनका अर्थ उनकी व्यक्ति-वाचकता के अनुकूल लगाना चाहिए। कोई कहते हैं कि दोनों का अर्थ उनकी गुणवाचकता के अनुकूल लगाना चाहिए। ऊपर वाक्य के पदों का जो संबंध बतलाया गया है, उसके अनुकूल उद्देश्य पद को व्यक्तियों का वाचक समझना उचित है

और विधेय पद को गुणों का द्योतक मानना चाहिए। विधेय पद से उद्देश्य पद की गुणवाचकता सूचित होती है। विधेय पद कोई बड़ा भारी वर्ग नहीं है जिसके भीतर उद्देश्य पद का वृत्त आ जाता है। आकारिक तर्क दोनों को व्याप्ति ही में लेता है। विधेय पद उद्देश्य पद का चिह्न है। हिंदू शास्त्रों के अनुकूल जो अनुमान होता है, उसके वाक्यों में विधेय पद लिङ्ग ही समझा जाता है। विधेय पद को गुण-द्योतक ही मानना ठीक है। इस मत से विधेय का परिमाण निश्चित करना भूल है। निर्णय द्वारा ज्ञान का विस्तार होता है। इस विस्तार में धर्मी के धर्म को स्पष्ट करते हैं। प्रत्यक्ष संबंधी ज्ञान में भी धर्मी का ही धर्म स्पष्ट किया जाता है।

"अयं घटः" इस निर्णय में "अयं" उँगली से निर्दिष्ट पदार्थ धर्मी है, घट उसका धर्म है। घटोऽयं मृत्तिकाविकारः घड़ा मिट्टी का है। इसमें धर्मी घट है। और मृत्तिका विकार धर्म है। आगे चलकर बतलाया जायगा कि पूर्ण व्याप्तिवाले भावात्मक वाक्य का अर्थ गणनात्मक नहीं है। सब मनुष्य नाशवान् हैं; इसका अर्थ यह नहीं है कि सब मनुष्य गिन लिए गए हैं और नाशवान् पदार्थ भी; और मनुष्य भी उस गणना के भीतर आ गए। मनुष्य जाति के साथ नाश का गुण लगा हुआ है। वाक्यों के अर्थ का ठीक अर्थ न समझने के कारण लोगों ने लैंगिक अनुमान को दूषित माना है। वृत्तों द्वारा तार्किक वाक्यों के आकार-निरूपण की प्रथा इस प्रकार की

भूलों के लिये उत्तरदायिनी है। इस दृष्टि से विधेय पद की व्याप्ति के बारे में जो कुछ लिखा गया है, वह भी दूषित है। किंतु यह बात आकारिक तर्क शास्त्र के लिये बहुत महत्त्व की है और इसका जानना अनुमान के लिये आवश्यक है; इसलिये इसका वर्णन यहाँ पर किया गया है। हैमिल्टन साहिब का भी उद्योग विधेय पद की व्याप्ति पर निर्भर होने के कारण दूषित है।

चौथे अध्याय पर अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) भाषा में वाक्य मुख्य है अथवा शब्द ? तार्किक और वैयाकरण वाक्य में क्या अन्तर है ?

(२) निम्नलिखित वाक्यों का तार्किक रूप दीजिए—

हा धिक् !
हम तर्क शास्त्र नहीं पढ़े हैं।
पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जिन आचरहिं ते नर न घनेरे।
सबै दिन जात न एक समान।
हैहै वही जो राम रचि राखा।
उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।
सब बादल नहीं बरसते हैं।
जो गरजते हैं, सो बरसते नहीं।
शूरवीर ही विजयश्री प्राप्त करते हैं।
बन्दर अदरक का स्वाद क्या जाने।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।
ईश्वर को छोड़कर सब पदार्थ अनित्य हैं।
प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।
ऐसे लोग विरले ही हैं जो अपनी शक्तियों का सदुपयोग करते हैं।

(३) नीचे के वाक्यों का तार्किक रूप देते हुए उनकी संज्ञा बतलाइए—

धन्वंतरि भारतवर्ष के सब से बड़े वैद्य थे।
जो इस संसार में आया, वह निश्चय रूप से मरेगा।
विद्वान् लोग धनवान नहीं होते।
आप आप ही हैं।
धनी लोग मूर्ख होते हैं।
साल में बारह महीने होते हैं।

(४) शाब्दिक और वास्तविक वाक्यों का दूसरा नाम बतलाइए और यह भी बतलाइए कि यह भेद कहाँ तक वास्तविक है।

(५) नीचे के वाक्यों का तार्किक रूप देकर लिखिए कि इनमें कौन से पद व्याप्त हैं और कौन से अव्याप्त नहीं हैं—
सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।
पंडित लोग निर्धन होते हैं।
अरस्तू सिकन्दर का गुरु था।
कुछ मनुष्य मूर्ख नहीं हैं।
पारे को छोड़कर सब धातुएँ ठोस पदार्थ हैं।
निषेधात्मक वाक्यों का विधेय पद क्यों व्याप्त माना जाता है?

(६) विधेय पद गुणवाचक मानना चाहिए अथवा व्याप्ति-वाचक, सतर्क उत्तर दीजिए।
इस दृष्टि से हैमिल्टन साहब का उद्योग कहाँ तक तर्क-सम्मत है?

(७) नीचे लिखे वैकल्पिक वाक्यों को काल्पनिक बनाइए और काल्पनिक से शुद्ध निरपेक्ष रूप दीजिए—
यह मनुष्य या तो मूर्ख है या बदमाश।
पढ़ा भला, नहीं तो मरा भला।
धन कमा लो या धर्म कमा लो।
दो ही जन सुखी हैं; या तो मूर्खतम हो या महान् पंडित।

पाँचवाँ अध्याय

वाच्य-धर्म, विभाग और वर्गीकरण

(Predicables, Division and Classification)

उद्देश्य और विधेय पद के संभावित संबंध को वाच्य-धर्म (Predicables) कहते हैं। इन वाच्य धर्मों द्वारा एक प्रकार

वाच्य धर्म

से विधेय पदों की संख्या निश्चित करने का यत्न किया गया है। यह यत्न कहाँ तक सफलता को प्राप्त हुआ है, यह पाठक लोग आगे चलकर जान लेंगे। जो वाच्य-धर्म आजकल यूरोपीय तर्क शास्त्रों में प्रचलित हैं, वे रोमन पंडित प्रोफेरी (Prophery) के पंच पदों के आधार पर बने हैं। ये अरस्तू के वाच्य पदों से कुछ भिन्न हैं *।

प्रोफेरी के पंच पद ये हैं—

१ जाति (Genus)

२ उपजाति (Species)

३ व्यावर्त्तक धर्म (Differention)

---

*अरस्तू के मत से विधेय या तो उद्देश्य पद का समान व्याप्तिवाला है या नहीं है। यदि वह समान व्याप्तिवाला है तो वह उसका लक्षण है। यदि समान व्याप्तिवाला नहीं है तो वह उद्देश्य की जाति, व्यावर्त्तक धर्म, सहज धर्म वा औपाधिक होगा। प्रोफेरी ने लक्षण वा परिभाषा को वाच्य धर्मों की संख्या में नहीं रक्खा है। प्रोफेरी ने लक्षण के स्थान में उपजाति मानी है।

४ सहज गुण (Property)

५ औपाधिक गुण (Accidents)

इनमें से पहले दो पद तो व्याप्ति अथवा वस्तु-वाचकता से संबंध रखते हैं और शेष तीन का गुणों वा शक्तियों अर्थात् गुणवाचकता से संबंध है।

जाति और उपजाति

जब किसी वर्ग का छोटे वर्गों में विभाग किया जाता है, तब बड़े वर्गों को जातियाँ और छोटे वर्गों को उपजातियाँ कहते हैं। एक समान-धर्म रखनेवाले व्यक्तियों का उन गुणों वा धर्मों की एकाकारता की प्रतीति पर, जो व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँधनेवाला विचार बताया जाता है, वही जाति वा वर्ग है।

न्यायदर्शन में 'जाति' की परिभाषा इस प्रकार की है—"समान प्रसवात्मिका जातिः"। अर्थात् द्रव्यों में आपस में भेद रहते हुए भी जिससे समान बुद्धि उत्पन्न हो, वह जाति है। "या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्त्तन्ते योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यं"। जाति उपजातियों से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। जाति और उपजाति दोनों ही व्याप्ति-सूचक शब्द हैं। किंतु प्रायः विधेय पद व्याप्ति में नहीं लिया जाता। विधेय पद उद्देश्य पद का गुण-द्योतक हुआ करता है। इस दृष्टि से

न्याय, वैशेषिक दर्शनों के अनुसार जाति की व्याख्या

वाच्य धर्म के भीतर, जो कि उद्देश्य पद और विधेय पद के संबंधसूचक हैं, जाति और उपजाति का रखना ठीक नहीं समझा जा सकता। वास्तव में यह बड़ा प्रश्न है कि जाति में उपजाति किस प्रकार से रहती है। जाति के भीतर उपजाति इस प्रकार से नहीं रहती जैसे संदूक के भीतर कपड़े। उपजाति होकर भी वह जाति है; और जाति होने पर भी उसमें सब उपजातियों की संभावनाएँ वर्तमान रहती हैं। जाति-गुण वाचकता में भी संभावना रूप से अधिक विस्तारवाली है। उपजाति जाति का एक विशेष रूप है। वैशेषिक दर्शन में जाति को सामान्य कहा है*। वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित सामान्य अधिकांश में गुण रूप ही है। हमारे देश में वाच्य-धर्मों की संज्ञा बनाने का कोई यत्न नहीं किया गया है; तथापि सामान्य संबंधी विचारों का वाच्य-धर्मों के साथ समावेश हो सकता है। सामान्य के दो भेद किए गए हैं—(१) पर-सामान्य और (२) अपर सामान्य। अधिक व्यक्तियोंवाले वर्ग को पर-सामान्य और कम व्यक्तियोंवाले वर्ग को अपर सामान्य कहते हैं। "परत्वं अधिकदेशवृत्तित्वम् । अपरत्वं अल्पदेशवृत्तित्वं"

इस दृष्टि से जाति और उपजाति का परस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट ही है। पर और अपर सामान्य संबन्धात्मक हैं। मनुष्यत्व

---

* कहीं कहीं (जैसे सप्त पदार्थों में) सामान्य और जाति में भेद किया गया है। सामान्य जातिरूपमुपाधिरूपं च। जातिः सत्ता द्रव्य गुण कर्मत्वादि। उपाधिरूप वाचकत्वादि।

ब्राह्मणत्व के सम्बन्ध में पर-सामान्य है और प्राणित्व के सम्बन्ध में अपर सामान्य है। न्याय-सिद्धान्त मुक्तावली में कहा भी है—

व्यापकत्वात्परापि स्यात् व्याप्यत्वादपरापि च। *

अर्थात् जात्यन्तर की अपेक्षा व्यापक होने से वही जाति "पर" कही जाती है तथा व्याप्य होने से उसी में "अपर" व्यवहार होता है। पर और अपर सामान्य को व्यापक और व्याप्य भी कहते हैं। इसी हिसाब से कुछ केवल व्यापक होते हैं जिनको अँग्रेजी में Sumum Genus अर्थात् परतम जाति कहते हैं। वैशेषिक मत-वालों ने सत्ता को केवल व्यापक माना है। कुछ ऐसे हैं जिनको व्याप्य-व्यापक कहा है। व्याप्य-व्यापक का दूसरा नाम परम्परा भी है। एक दृष्टि से यह व्यापक है और एक दृष्टि से व्याप्य है। इनको अँग्रेजी में Subaltern Genera कहा है। कुछ ऐसे हैं जो केवल व्याप्य हैं। ये घटादिक हैं जो और किसी के व्यापक नहीं हो सकते। इनको अँग्रेजी में Infima Species अर्थात् अपरतम जाति कहा है। व्याप्य-व्यापकता उन्हीं जातियों

* पृथिवीत्वाद्यपेक्षया व्यापकत्वादधिकदेशवृत्तित्वाद्द्रव्यत्वादेः परत्वम्। सत्तापेक्षया व्याप्यत्वादल्पदेशवृत्तित्वाच्च द्रव्यत्वस्यापरत्वम्। (मुक्तावली)

पृथिवीत्वादि की अपेक्षा व्यापक होने के कारण और बहु देशवर्ती होने के कारण द्रव्यत्व की परा संज्ञा है और सत्ता की अपेक्षा व्याप्य और अल्पदेशी होने के कारण द्रव्यत्व की अपरा संज्ञा है। जो जातियाँ एक ही अधिकरण में इकट्ठी रहती हैं, उन्हीं का व्याप्य-व्यापक भाव संबंध होता है।

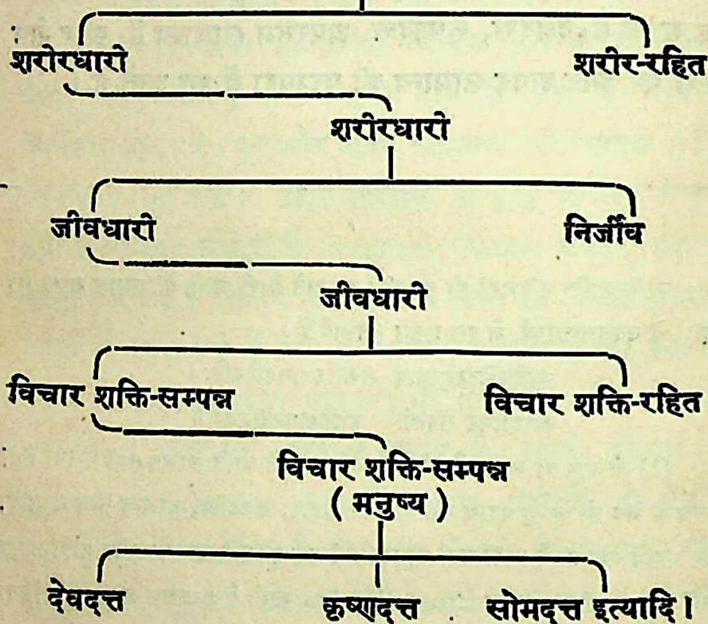
में लगाई जा सकती है जो वास्तव में एक दूसरे के अन्तर्गत हो सकती हैं। ये सब विचार जाति के विषय में हैं, व्यक्ति के विषय में नहीं *। नीचे के वृत्त में द्रव्य परतम सामान्य है; देवदत्त, कृष्णदत्त अपरतम सामान्य हैं; और शेष सब पर और अपर सामान्य की परम्परा में आ जाते हैं।

---

* जाति व्यक्ति की नहीं हो सकती। छः बातें हैं जो जाति की बाधक मानी गई हैं। वे उदयनाचार्य्य ने इस प्रकार बतलाई हैं।

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिर संबन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥

(१) जो एक ही व्यक्ति है; जैसे आकाश, उसमें जाति सम्भव नहीं। (२) जहाँ नाम में भेद हो किन्तु पदार्थ एक हो; जैसे घटत्व, कलशत्व, कुम्भत्व तीन नाम हैं, पर पदार्थ एक ही है। (३) जहाँ दो जातियाँ एक दूसरे के अन्तर्गत और बहिर्गत रह सकें। इसको संकर मिश्रण Cross division कहते हैं। भूतत्व आकाश में बिना मूर्तत्व के पाया जाता है और मन में मूर्तत्व बिना भूतत्व के पाया जाता है। अन्य पदार्थों में भूतत्व और मूर्त्तत्व साथ पाया जाता है; इसलिये भूतत्व और मूर्तत्व जाति नहीं हो सकते। (४) सामान्य की सामान्यत्व जाति नहीं बन सकती; नहीं तो फिर इसकी भी जाति बनाने की आवश्यकता पड़ेगी और अनवस्था होगी। (५) विशेष की जाति विशेषत्व नहीं बन सकती; क्योंकि विशेष की जाति होना व्याघातक है। जाति और विशेष का विरोध है। (६) समवायत्व जाति नहीं हो सकती। समवाय एक सम्बन्ध है जो सब पदार्थों में रहता है। समवायत्व किस सम्बन्ध से समवाय में रहेगा? यह भी एक प्रकार से अनवस्था में ही आ जाता है।



व्यावर्त्तक धर्म — जो गुण किसी जाति या उपजाति का मुख्य धर्म होता है, अथवा जिसके द्वारा उस जाति का अन्य जातियों से भेद किया जाता है, उस गुण को व्यावर्त्तक गुण कहते हैं *।

---

* वैशेपिक दर्शन में 'विशेष' नाम से एक पदार्थ माना है। यह नित्य पदार्थों (विशेष कर परमाणुओं) का भेद करनेवाला व्यावर्त्तक कहा गया है। यथा—

अंत्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः,

त्रिभुज में तीन भुजाओं का होना त्रिभुज का व्यावर्त्तक गुण है। मनुष्य में चेतना शक्ति-विशिष्ट होना व्यावर्त्तक गुण है। इस गुण को पहले तो लोग स्थिर मानते थे, किन्तु आजकल के लोग इसे स्थिर नहीं समझते। उनका कहना है कि जिस दृष्टि से हम पदार्थ को देखते हैं, उसी दृष्टि के अनुकूल उस जाति का व्यावर्त्तक गुण होता है। प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से मनुष्य का जो व्यावर्त्तक धर्म है, वह तर्क शास्त्र की दृष्टि से नहीं है। परिभाषा में प्रायः व्यावर्त्तक धर्म दिए जाते हैं; किन्तु प्रश्न यह है कि जाति में रहनेवाले गुणों में से किन को व्यावर्त्तक गुण कहेंगे और किनको नहीं। यह कहा जाता है कि जिसके रहने या न रहने से जाति के स्वरूप में बाधा पड़े, वह व्यावर्त्तक गुण है। परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि तीन भुजावाला होना इतना ही आवश्यक है जितना कि तीन कोनेवाला होना। इसके साथ यह भी प्रश्न है कि यह व्यावर्तक गुण किस प्रकार निश्चित किया जाता है। रेखागणित इत्यादि में, जिनका कि विचार से संबन्ध है, व्यावर्त्तक गुण का निश्चय करने में उतनी कठिनाई नहीं जितनी कि और जगह। व्यावर्त्तक गुण का निश्चय करने में यह परम आवश्यक बात है कि वह जाति के सब व्यक्तियों में पाया जाय; और इस बात का निश्चय होना कि व्यक्ति अमुक जाति के अन्तर्गत है, तभी हो सकता है जब कि उस जाति के व्यावर्त्तक गुण मालूम हों। इसी कारण वर्गीकरण में प्रायः कठिनाई पड़ती है। कोई कहते हैं कि यहाँ पर

नई जाति का आरम्भ होता है; और कोई कहते हैं कि नहीं। व्यावर्तक गुण जाति में बाहर से आकर नहीं मिल जाते। उपजाति में कुछ गुण विशेष होते हैं; परन्तु वे गुण ऐसे नहीं हैं जो कि दूध में शक्कर की भाँति मिला दिए जाते हों। उपजाति के व्यावर्त्तक गुणों का आधार जाति के ही गुणों में होता है*।

प्रोफेरी ने सहज गुणों को व्यावर्त्तक गुण से भिन्न माना है। उनके मतानुसार सहज गुण वे हैं जो जाति मात्र में पाए जाते हों। वे व्यावर्तक धर्मों से भिन्न होते हैं, किन्तु वे उनके फल स्वरूप हैं। उदाहरणार्थ, त्रिभुज का व्यावर्त्तक गुण तीन भुजाओं का होता है; किन्तु तीन कोणों का दो समकोणों के बराबर होना त्रिभुजों का सहज धर्म है। यह तीन भुजावाले होने के गुण का फल है। इस प्रकार विचार शक्ति विशिष्ट होना मनुष्य का व्यावर्त्तक धर्म है। किन्तु उन्नतिशाली होने का धर्म व्यार्त्तक नहीं। यह व्यावर्त्तक धर्म का फल है। अरस्तू के मत से यह सहज गुण व्यावर्त्तक गुण का फल-रूप नहीं है। सहज गुण दो प्रकार के माने गए हैं—एक सामान्य (Generic)

सहज गुण (Property)

* बहुत सी पुस्तकों में जाति, उपजाति और व्यावर्तक गुणों का ऐसा विवरण दिया जाता है कि मानों यह अंकगणित या बीज गणित के सभी कारण हैं, "जाति + व्यावर्तक धर्म = उपजाति उपजाति—व्यावर्तक धर्म = जाति" यह वर्णन भ्रमात्मक है। वास्तव में ये गुण जोड़े या घटाए नहीं जा सकते।

और दूसरे विशेष (Specific)। सामान्य सहज गुण वह है जो उस जाति में उसकी व्यापक जाति से प्राप्त होते हैं। ये गुण उस जाति के अतिरिक्त और जातियों में, जो कि उस जाति के साथ एक व्यापक जाति की उपजातियाँ होती हैं, वर्त्तमान रहते हैं। उदाहरणार्थ, भूख लगना सामान्य सहज गुण है क्योंकि यह गुण मनुष्यों के अतिरिक्त और जातियों में भी पाया जाता है।

विशेष सहज गुण वह होता है जो एक जाति के अतिरिक्त और किसी जाति में न पाया जाता हो। उन्नतिशाली होने का गुण सिर्फ मनुष्य में ही पाया जाता है। इसको विशेष सहज गुण कहेंगे। यह तो ऊपर बताया जा चुका है कि इस बात का निश्चय करना बहुत ही कठिन है कि कौन व्यावर्तक गुण है और कौन सहज गुण है। सहज गुणों का आधार जाति के विचार में वर्तमान रहता है। किन्तु फिर यही प्रश्न उठता है कि जाति के विचार में कौन से गुण समझे जायँगे और कौन उसके आधार पर समझे जायँगे। औपाधिक गुणों का आधार जाति के विचार में नहीं रहता; लेकिन व्यक्ति के विचार से बाहर भी नहीं कहा जा सकता। और जो अवियोज्य औपाधिक गुण हैं, उनका भी आधार जाति में ही कहा जायगा।

विशेष सहज गुण

औपाधिक (Accidents) वह गुण है जिसका होना न होना बराबर है; अर्थात् जिसके अभाव वा अस्तित्व से

और और गुणों में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। मनुष्य का काला होना या किसी देश में जन्म लेना उसके मनुष्यत्व में अंतर नहीं डालता। औपाधिक गुण (Accidents) व्यक्ति और जाति दोनों ही के हो सकते हैं; किन्तु व्यावर्तक और सहज गुण केवल जातियों के ही होते हैं। जो जातीय औपाधिक गुण हैं, उन में और सहज गुणों में, अरस्तू के मत से, कुछ भी अन्तर नहीं है। वास्तव में यदि कोई अन्तर है तो यही कि सहज गुणों का सम्बन्ध व्यावर्तक धर्मों के साथ प्रकट है और औपाधिक धर्मों का उनके साथ सम्बन्ध प्रकट नहीं। किन्तु विज्ञान के विस्तार से आशा है कि यह संवंध भी दिखाई पड़ने लगेगा; और फिर जातीय उपाधि और सहज गुण में कोई अंतर न रहेगा। यह अंतर हमारे अज्ञान का द्योतक है। व्यक्ति के औपाधिक गुणों में कुछ अवियोज्य (Inseperable) और कुछ वियोज्य (Seperable) हैं। मनुष्य का जन्म-स्थान, उसके माता-पिता ये सब अवियोज्य हैं। मनुष्य की पोशाक, उसका खड़ा होना, बैठना ये सब वियोज्य हैं। इसमें यह विचारणीय है कि व्यक्ति के भी कोई औपाधिक गुण हो सकते हैं अथवा नहीं। किसी मनुष्य का कवि होना मनुष्य जाति के लिये अनावश्यक है; किंतु उस व्यक्ति के लिये अनावश्यक नहीं। जो लोग उस व्यक्ति को पूर्णतया जानते हैं, उनके लिये उस मनुष्य का कविता करना अनावश्यक नहीं। मनुष्य की व्यक्तिता

औपाधिक गुण

में उसके सब गुण शामिल हैं और वह गुण उस व्यक्ति में कारण-रहित नहीं हैं। उस व्यक्ति का पूर्ण इतिहास, उसकी शिक्षा, पूर्वजों से प्राप्त परम्परा, धर्म, समाज, मित्र, जलवायु सभी उसके विशेष गुणों की व्याख्या करने में सहायक होंगे। जिस प्रकार व्यावर्तक धर्म जाति का जातित्व बनाते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति के औपाधिक धर्म उसकी विशेषता बताकर व्यक्ति का व्यक्तित्व बनाते हैं। जब ये गुण उस व्यक्ति का व्यक्तित्व बनाते हैं, तब फिर ये किस प्रकार अनावश्यक कहे जा सकते हैं? यह विवेचना विशेष कर व्यक्ति के अवियोज्य औपाधिक धर्मों में प्रयुक्त होती है; किंतु वियोज्य औपाधिक धर्मों में भी बहुत अंशों में प्रयुक्त होती है। किसी व्यक्ति का नाम वियोज्य औपाधिक धर्म माना गया है; किंतु वह नाम भी, यद्यपि वह बदला जा सकता है, उसकी व्यक्तिता में योग देता है।

जाति के औपाधिक गुणों के बारे में बस इतना ही कहा जा सकता है कि अवियोज्य औपाधिक धर्मों और सहज धर्मों में विशेष अंतर नहीं है। अंतर केवल इतना ही है कि सहज गुणों का व्यावर्तक धर्मों से स्पष्ट संबंध है; किंतु जाति के अवियोज्य औपाधिक गुणों का व्यावर्तक गुणों से संबंध तो है, किंतु वह स्पष्ट नहीं है। जाति के वियोज्य व्यावर्तक धर्म भी उस जाति के लिये अनावश्यक हों, किंतु वे जाति की किसी उपजाति के व्यावर्तक गुण हो सकते हैं। जाति की दृष्टि से वह अनावश्यक संबंध-रहित हों, किंतु उपजाति के संबंध

-से अनावश्यक न होंगे। इतना अवश्य ध्यान रहे कि बहुत सी उपजातियाँ अपनी जाति में सहज रूप से विभाग को प्राप्त होती हैं और बहुत सी कृत्रिम रूप से। कहीं पर तो यह औपाधिक धर्म सहज उपजातियों के विभाजक होंगे और कहीं पर कृत्रिम के; किंतु दोनों ही अवस्थाओं में वे उनके आधार पर विभाजित उपजातियों के व्यावर्तक गुण होंगे।

ऊपर की विवेचना से यह समझ लिया जाय कि सहज गुण और औपाधिक गुणों का भेद वृथा ही है। भिन्न भिन्न दृष्टियों से दोनों ही आवश्यक हैं। जो गुण जाति के लिये औपाधिक हैं, वे उपजाति वा व्यक्ति के लिये सहज वा व्यावर्तक धर्म हैं। परंतु उपजाति के धर्म को जाति का धर्म मान लेना भूल होगा। हमको अनुमान से यह देखना पड़ता है कि कौन किसका व्यापक है; किसका कौन मुख्य धर्म है, और कौन अमुख्य है; किसको हम अपने अनुमान का आधार बना सकते हैं और किसको नहीं। इस हिसाब से इन वाच्य धर्मों का ज्ञान अनुमान में बहुत सहायक होता है। धूएँ को हम अग्नि का धर्म नहीं बता सकते। आर्द्रेन्धन (गीले ईंधन) के संयोग से ही धूआँ होता है। धूआँ आग का औपाधिक गुण है। अग्नि से धूम का अनुमान नहीं हो सकता; पर धूम से अग्नि का अनुमान हो सकता है।

अब यह देखना है कि इन पर वाच्य धर्मों की संख्या कहाँ पूर्ण होती है। अर्थात् उद्देश्य और विधेय पद के इन संबंधों के अतिरिक्त और संबंध हो सकते हैं या नहीं।

पूर्वापर, कार्य्य-कारण, सहचार, तादात्म्य आदि अनेक संबंध हैं, किंतु इन सब संबंधों का तार्किक वाक्य में आना बहुत कठिन है। यहाँ पर तार्किक वाक्य में जो सम्भव संबंध है, उन्हीं की विवेचना की जाती है। इसलिये संबंधों की वास्तव संख्या के ऊपर वाच्य धर्मों की पूर्णता में शंका उठाना ठीक नहीं। ऊपर के बताए हुए संबंधों में से तादात्म्य संबंध ऐसा है जो तार्किक वाक्य में सम्भव है; किंतु प्रोफेरी के वाच्य धर्मों में नहीं पाया जाता। अरस्तू के वाच्य धर्मों पर यह विचार प्रयुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि उसने लक्षण को एक वाच्य-धर्म माना है।

पाँचवें अध्याय पर अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) वाच्य धर्म वा अभिधेय किसको कहते हैं ?
अरस्तू और प्रोफेरी दोनों के मत से वाच्य धर्म गिनाइए।

(२) बतलाइए कि निम्नलिखित वाक्यों में कौन सा संबंध प्रयुक्त है—
मनुष्य भी जानवर है।
मनुष्य मरणशील है।
घोड़ा सुमदार जानवर है।
फटे हुए खुरवाले जानवर जुगाली किया करते हैं।
हरिश्चद्र बड़े सत्य-परायण थे।
वह मनुष्य काला है।
वह मनुष्य छत पर खड़ा है।
मनुष्य ऐसा जानवर है जो लिख पढ़ सकता है।

विष्णुशर्मा का जन्म प्रयाग में हुआ था।

देवदत्त मिथिला का रहनेवाला है।

(३) न्याय दर्शन के अनुकूल जाति की परिभाषा बतलाइए। वैशेषिक-दर्शन में जाति के लिये क्या शब्द आया है ?

(४) नीचे लिखे हुए शब्दों से आप क्या समझते हैं ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।

परतम जाति, अपरतम जाति, वियोज्य, औपाधिक गुण, जातीय सहज गुण।

(५) व्यावर्तक गुण, सहज गुण और औपाधिक गुण का अंतर बतलाते हुए इस विषय में अपना मत प्रकट कीजिए कि यह भेद कहाँ तक युक्तियुक्त है।

छठा अध्याय

पदार्थ वा संज्ञाएँ (Catagories)

संज्ञाएँ भी वाच्य धर्मों की भाँति विधेय पद से संबंध रखतीं हैं। वाच्य धर्मों के विवरण में उद्देश्य और विधेय के संबंध की संज्ञाएँ स्थिर की जाती हैं; किंतु 'कैटेगोरीज़' वे हैं, जो उद्देश्य के संभावित विधेयों की संज्ञाएँ बतलातीं हैं; अर्थात् यह बतलातीं हैं कि किसी सत् पदार्थ के विषय में कितने प्रकार की बातें कही जा सकती हैं। वाच्य धर्म वाक्य में ही हो सकते हैं; किंतु संज्ञाएँ पदों के विषय में भी निश्चित की जा सकती हैं। कुछ लोग अरस्तू की प्रतिपादित संज्ञाओं को वास्तविक पदार्थों की संज्ञाएँ वा परतम सामान्य मानते हैं। इन लोगों के मत से ये सत्ता के विभाग हैं। कुछ लोग इनको केवल नामों के विभाग मानते हैं और कुछ लोग विचार की संज्ञाएँ मानते हैं। कान्ट इनको ज्ञान के ढाँचे मानता है। इन्हीं के द्वारा ज्ञान निश्चित रूप प्राप्त करता है। भिन्न भिन्न दृष्टियों से लोगों ने संज्ञाओं की नामावली दी है। वास्तव में विचार और सत्ता की पृथक्ता होना कठिन है। तार्किक और तात्विक दृष्टि में भेद नहीं होना चाहिए।

संज्ञा वा पदार्थ किनको कहते हैं

महर्षि कणाद ने छः पदार्थ माने हैं। वे यह हैं—(१) द्रव्य,

(२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य (५) विशेष और (६) समवाय। पीछे के आचार्यों ने अभाव नाम का एक सातवाँ पदार्थ और माना है। इस प्रकार सात पदार्थ हुए—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय, और अभाव। इनमें से द्रव्य, गुण और कर्म का सत्ता से विशेष वा अव्यवहित संबंध है; औरों का संबंध व्यवहित है। इनमें से पहले तीन पदार्थ तात्विक वा सत्ता संबंधी कहे जायँ और बाक़ी तार्किक वा विचार संबंधी कहे जायँ, तो अनुपयुक्त न होगा। अभाव के लिये प्रश्न यह है कि यह पदार्थ माना जाय या नहीं। यहाँ पर संक्षेप में इतना ही कहना आवश्यक होगा कि अभाव बिलकुल शून्य नहीं है। अभाव में भाव लगा हुआ है। अभाव किसी आकांक्षा की पूर्ति न होने का द्योतक होने से एक प्रकार का ज्ञान है। अतः इसको पदार्थों में स्थान मिलना अनुचित नहीं है। इसके साथ यह अवश्य ध्यान रहे कि प्रधानता भाव ही की है। जिस वस्तु का भाव होता है, उसी का अभाव भी होता है; जिस का भाव नहीं, उसका अभाव भी नहीं। न्याय-दर्शन में भी भाव का प्रमेयत्व स्वीकार किया गया है। निशान लगे हुए कपड़ों से बिना निशानवाले कपड़ों को अलग कर सकते हैं। यदि अभाव प्रत्यक्ष होनेवाला न होता, तो बिना निशान के कपड़े को किस प्रकार अलग कर सकते? इसमें भी भाव ही की प्राधानता है। जहाँ भाव को स्वतन्त्र सत्ता मानी

महर्षि कणाद के माने हुए पदार्थ

गई है, वहाँ यह भी माना गया है कि अभाव का प्रत्यक्ष उसके प्रतियोगी (घटाभाव का प्रतियोगी घट है) की स्मृति के सहारे होता है। अभाव को अधिकरण (पृथिवी आदि, जहाँ कोई वस्तु रहती हो) से भिन्न माना है। अधिकरण और अभाव का सम्बन्ध विशेषता का है। हमारा सम्बन्ध घट के अभाव से संयुक्त विशेषणता का है। अरस्तू ने दस संज्ञाएँ* मानी हैं, जो इस प्रकार हैं—

अरस्तू की मानी हुई संज्ञाएँ

१ द्रव्य (Substance)	६ काल (Time)
२ परिमाण (Quantity)	७ स्थिति (Situation)
३ गुण (Quality)	८ अवस्था (State)
४ संबंध (Relation)	९ कर्म (Action)
५ देश (Place)	१० भोग वा नैष्कर्म (Passion Suffering)

कोई वाक्य ले लिया जाय, उसमें इनके दो, चार, छः उदाहरण मिल जायँगे। "आज सुबह आठ बजे दो गरीब विद्यार्थी

* कणाद के और अरस्तू के माने हुए पदार्थों में द्रव्य, गुण, कर्म ये तीन संज्ञाएँ देखने में तो एक सी मालूम होती हैं किंतु अर्थ में भेद है। कर्म में नैष्कर्म वा भोग भी शामिल है। नैष्कर्म अभाव के भी अन्तर्गत हो सकता है। कणाद ने परिमाण को गुण में रक्खा है। युरोप के कई आचार्यों ने गुण की व्याख्या परिमाण के शब्दों में की है और कई ने परिमाण की व्याख्या गुण में की है। गुण को ही प्रधानता देना श्रेष्ठ है। देश और काल का कणाद ने द्रव्य माना है। संबंध को कणाद ने अलग स्थान नहीं दिया है। समवाय एक प्रकार का संबंध है। परत्व और अपरत्व जो कि गुण में रक्खे गए हैं, अरस्तू के हिसाब से संबंध में आवेंगे।

जो कि एक दूसरे के पड़ोसी थे, एक अमीर आदमी के घर पर खड़े हुए दीनता से सेर भर अन्न की भीख माँग रहे थे; लेकिन अमीर आदमी के यहाँ भीख के स्थान में गालियाँ सुननी पड़ीं।" ऊपर के वाक्य में प्रायः सभी संज्ञाएँ आ गई हैं। पहला पद काल की संज्ञा में आवेगा; "गरीब" गुण की संज्ञा में आवेगा; "विद्यार्थी" द्रव्य है; "एक दूसरे के पड़ोसी थे" संबन्ध है; "घर" देश है; "खड़े हुए" स्थिति है; "दीनता से" अवस्था की संज्ञा में आवेगा; "सेर भर" परिमाण है; "भीख माँग रहे थे" क्रिया है; और "गालियाँ सुननी पड़ीं" भोग है। बहुत लोगों ने अरस्तू की संज्ञाओं की पूर्णता में संदेह किया है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि इनमें पुनरुक्ति हो गई है; जैसे स्थिति और अवस्था में अधिक भेद नहीं है। स्टोइक (Stoics) लोगों ने इन संज्ञाओं को चार संज्ञाओं में संक्षिप्त कर दिया है। वे ये हैं—(१) द्रव्य (Substratum), (२) सहज गुण (Property) (यह आवश्यक गुण है), (३) गुण (Quality) (अनावश्यक वा विशेषण जो समस्त जाति में न पाए जायँ) और सम्बन्ध (Relation)। गुण के ऐसे दो भेद करने की आवश्यकता न थी। गुण में ही दोनों तरह के गुण आ जाते; क्रिया रखना आवश्यक था।

मिल साहब ने अरस्तू की इस नामावली के विषय में लिखा है—The imperfections of this classification

अरस्तू की संज्ञाओं पर मिल साहब के विचार

are too obvious to require, and its merits are not sufficient to reward, a minute Exmination.......

Some objects are admitted and others repeated several times under different heads. It is like a division of animals into men, quadrupeds, horses and ponies. That for instance could not be a very comprehensive view of the nature of relation, which could exclude action passivity and local situation from that category.

पर स्वयं मिल साहब का विभाग भी इसी प्रकार की समालोचना का विषय बन गया है। मिल साहब ने सत् पदार्थों के चार विभाग किए हैं—(१) भाव और संज्ञा की अवस्थाएँ; (२) इनका अनुभव करनेवाला मन; (३) शरीर तथा दूसरे बाह्य पदार्थ जिनसे भावों का उदय होता है; और (४) इन भावों के सादृश्य और भेद तथा इनका सहचार और आनुपूर्वी।

जर्मन तत्ववेत्ता कान्ट ने तार्किक वाक्यों का विश्लेषण कर बारह पदार्थ माने हैं। कुल ज्ञान तार्किक वाक्यों के रूप में आ

कान्ट की मानी हुई संज्ञाएँ

सकता है; और चूँकि बारह तार्किक वाक्य संभव हैं, इसलिये बारह ही संज्ञाएँ हो सकती हैं। ये संज्ञाएँ विचार के साँचों की भाँति हैं। जब तक कोई विचार इन साँचों के भीतर होकर न जाय,

तब तक उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता। अरस्तू की संज्ञाएँ बने बनाए या गढ़े हुए विचारों की संज्ञाएँ हैं। काण्ट की संज्ञाएँ विचार की क्रिया की संज्ञाएँ हैं। कांट ने ज्ञान की उत्पत्ति की विवेचना करते हुए इन संज्ञाओं को पाया है; और अरस्तू ने उनकी उत्पत्ति की ओर ध्यान न देकर बने बनाए ज्ञान की संज्ञाएँ स्थापित की हैं। बारह प्रकार के तार्किक वाक्य और उनसे निकली हुई संज्ञाएँ इस प्रकार हैं—

परिमाण (व्याप्ति)

तार्किक वाक्य	संज्ञाएँ
१ व्यक्तिवाचक (Singular)	एकता (Unity)
२ अपूर्ण व्याप्तिवाले (Particular)	अनेकता (Plurality)
३ पूर्ण व्याप्तिवाले (Universal)	पूर्णता (Satability)

गुण (भावाभाव)

तार्किक वाक्य	संज्ञाएँ
१ भावात्मक (Affiramative)	भाव वा वास्तविकता (Reality)
२ अभावात्मक (Negative)	अभाव (Negation)
३ अनिश्चयात्मक (Indefinite)	परमितता वा संकोच (Limitation)

सम्बन्ध (Relation)

तार्किक वाक्य	संज्ञाएँ
१ साधारण वा निरपेक्ष (Categorical)	द्रव्य (Substance)
२. अभ्युपगत वा काल्पनिक (Hypothetical)	कार्य्य-कारणता (Causality)
३ वैकल्पिक (Disjunctive)	अन्योन्याश्रयता (Reciprocity)

प्रकारता (Modality)

तार्किक वाक्य	संज्ञाएँ
१ संदेहात्मक वा संभावनात्मक (Problemetic)	संभावना (Possibility)
२ वर्णनात्मक (Assertoric)	सत्ता (Existence)
३ निश्चयात्मक (Necessary)	अवश्यंभाविता (Necessity)

संज्ञाओं की यह नामावली बहुत से आचार्य्यों की खण्डनात्मक समालोचना का विषय बन चुकी है। यह नामावली न तो पूर्ण ही है और न पुनरुक्ति दोष से रहित ही है। सत्ता और वास्तविकता में विशेष भेद नहीं। वास्तव में बारह की संख्या को पूर्ण करने के लिये घूम फिरकर वे ही नाम आ गए हैं। बहुत सी जगह यह भी नहीं समझ में आता कि अमुक तार्किक वाक्य से अमुक संज्ञा किस प्रकार निकली—अनिश्चयात्मक वाक्य से संकोच वा परमितता की संज्ञा कैसे निकल सकती है। इस परमितता की संज्ञा के लिये ही एक आचार्य्य ने कहा है कि यह एक प्रकार की झूठी खिड़की (False window) है। जैसे कहीं पर वास्तव में दरवाजा या खिड़की न हो, लेकिन जवाब के लिये एक दरवाजा सा खींच देते हैं, उसी प्रकार यह परमितता की संज्ञा भी बना दी गई है।

कांट ने जिस आधार पर यह नामावली रची है, वह आधार ही ठीक नहीं है। यह विभाग केवल मानसिक है। वास्तविक

वाक्यों का विभाग वही है जो पहले कहा गया है । वास्तविक वाक्यो में इन विभागों का योग रहता है। इसी कारण इनके आधार पर बनी हुई संज्ञाएँ एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकतीं। वास्तव में कोई तार्किक वाक्य केवल निषेधात्मक नहीं हो सकता। वह साधारण वा निरपेक्ष (Categorical) होगा, या संदेहात्मक होगा। फिर वह या तो पूर्ण व्याप्तिवाला होगा और या अंश व्याप्तिवाला होगा। तार्किक वाक्यों का यह विभाग पूर्ण भी नहीं है। स्वयं कांट ने भी दो एक और तरह के तार्किक वाक्य माने हैं। तार्किक वाक्यों का यह वर्गीकरण जितना दूषित है, उतनी ही उसके आधार पर बनी हुई संज्ञाओं की नामावली भी है। इन संज्ञाओं की नामावली यद्यपि दूषित है, किन्तु इनके द्वारा युरोपीय दार्शनिक इतिहास ने सचाई की ओर पलटा खाया है। इनके मानने से मनुष्य का मन वा अन्तःकरण ज्ञान का केवल निष्क्रिय पात्र नहीं रहा, वरन् ज्ञान में व्यवस्था स्थापित करनेवाला माना जाने लगा। जैसा कि आगे दिखाया जायगा, कारणता की संज्ञा का अनुभव-जन्य होना सिद्ध करना कठिन है। एकता, कार्य्य, कारणादि भाव अनुभव और अनुमान के आधार हैं, न कि उनके फल। इस बात की ओर उस समय के तात्विक संसार का ध्याना पहले पहल कान्ट ने ही आकर्षित किया था। इसी प्रकार हेगल ने भी अपनी संज्ञाएँ निश्चित की हैं; किन्तु वास्तव में बात यह है कि सत्ता और विचार की संज्ञाएँ बनाना बहुत कठिन है। एक संज्ञा दूसरी संज्ञा से लगी

हुई है। द्रव्य और गुण ये दो ही मुख्य संज्ञाएँ हैं। यदि द्रव्य, गुण, परिमाण, कर्म और संबन्ध को संज्ञाएँ मान लें, तो ऊपर की वर्णित सब संज्ञाएँ इनके अन्तर्गत हो जायँगी।

छठे अध्याय पर अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) संज्ञाएँ किनको कहते हैं ? संज्ञाओं तथा वाच्यधर्मों में अन्तर बतलाइए।

(२) अरस्तू ने कितनी संज्ञाएँ मानी हैं ? अरस्तू की संज्ञाओं की विवेचना कीजिए।

(३) कणाद ने कितने पदार्थ माने हैं ? अभाव को पदार्थ मानना कहाँ तक ठीक है ?

(४) अरस्तू और कणाद के माने हुए पदार्थों की तुलना करो।

(५) काण्ट ने कितनी संज्ञाएँ मानी हैं ? उनका क्या आधार है ? विवेचनापूर्ण उत्तर दीजिये।

(६) नीचे लिखे पदों में बतलाइए कि कौन पद अरस्तू की किस संज्ञा के अंतर्गत है—

घोड़ा, जीवन, थोड़ा, बैठना, सोना, नदी तटपर, शाम के चार बजे, हाँफता हुआ, भींगना, कमजोरी।

सातवाँ अध्याय

विभाग और वर्गीकरण विभाग

किसी जाति को छोटी जातियों में बाँट देने की क्रिया को विभाग कहते हैं। जिसका विभाग करते हैं, उसको विभाज्य कहते हैं; और विभाग क्रिया द्वारा जो उप जातियाँ बन जाती हैं, उनको हम विभाग-फल कहेंगे। जिस गुण-भेद के आधार पर विभाग किया जाता है, उसको विभाग-मूल, अथवा व्यावर्तक कहेंगे। विभाग सम्बन्धिनी भूलों से बचने के लिये विभाग के कुछ नियम बनाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

विभाग और विभाग-संबंधी अन्यशब्दों की व्याख्या

(१) विभाग में एक ही विभाग-मूल से काम लेना चाहिए। इस नियम का पालन करने से विभाग में जो दोष आ जाता है, उसको संकर वा मिश्रित विभाग (Cross Division) कहते हैं। इसमें एक जाति के व्यक्ति दूसरी जाति में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार के विभाग में जातियों की स्पष्ट सीमा नहीं रहती। यदि एक दर्जे के विद्यार्थियों का विभाग इस प्रकार करें—हिन्दू, मुसलमान, क्रिकेट खेलनेवाले और क्रिकेट न खेलनेवाले, तो यह विभाग दोष-

विभाग के नियम

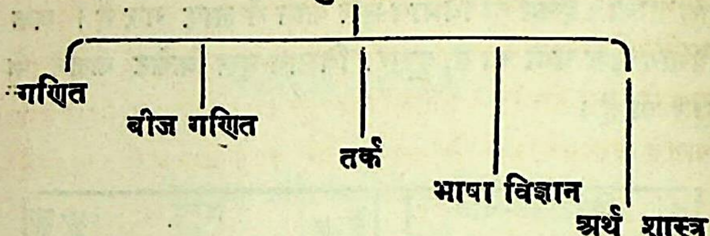
पूर्ण होगा। इसमें दो विभाग-मूल काम में लाए गए हैं। एक विभाग-मूल धर्म्म का है, दूसरा विभाग-मूल क्रिकेट खेलने के गुण का है।

मुसलमान	क्रिकेट खेलनेवाले		हिन्दू
	क्रिकेट न खेलनेवाले		

क्रिकेट खेलने-वाले	हिन्दू		क्रिकेट न खेलनेवाले
	मुसलमान		

दो विभाग-मूलों के प्रयोग से मुसलमानों में क्रिकेट खेलनेवाले और क्रिकेट न खेलनेवाले दोनों ही आ जाते हैं; और इसी प्रकार हिन्दुओं में भी दोनों आ जाते हैं। उधर क्रिकेट खेलनेवालों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही आ जाते हैं।

(२) विभाग-फल के रूप में प्राप्त होनेवाली उपजातियों को एक दूसरी से बाहर रहना चाहिए; अर्थात् एक जाति के भीतर दूसरी जाति के व्यक्तियों के आने की संभावना न रहे। यदि मनुष्यों का विभाग मूर्खों और धूर्तों में किया जाय, तो बहुत से मूर्खों की धूर्तोंवाली संज्ञा में जाने की संभावना रहेगी; और बहुत से धूर्तों का मूर्खों के वर्ग में सम्मिलित हो जाना सम्भव है। यह दोष प्रायः दो विभाग-मूलों को काम में लाने से आ जाता है; किन्तु कभी कभी स्वतंत्र रीति से भी—प्रायः विभाज्य के अंगों या विषयों आदि का समुचित ज्ञान न होने के कारण—प्राप्त हो जाता है। यदि हम पुस्तकों का विभाग इस प्रकार करें—



तो इस विभाग में गणित की संज्ञा में बीज गणित की सब पुस्तकें आ जायँगी।

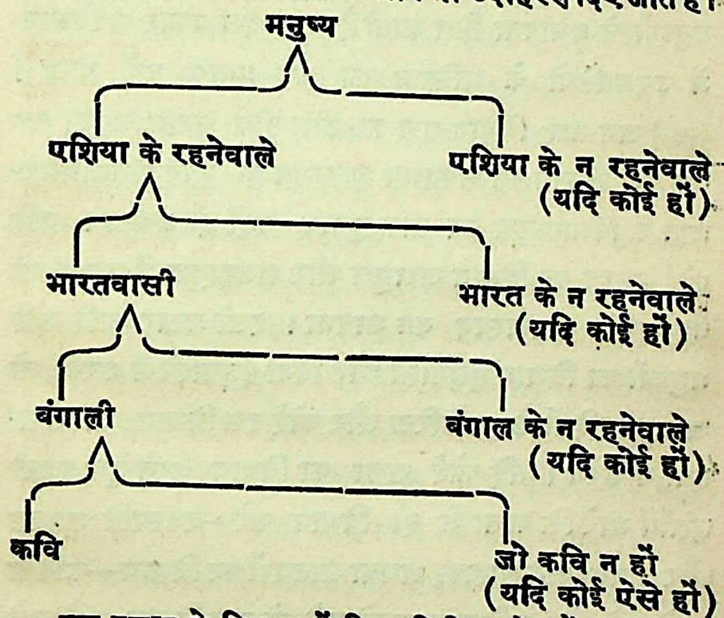
(३) विभाग-फल के रूप में प्राप्त जातियों का योग विभाज्य के बराबर होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि चाहे जिस आधार पर विभाग किया जाय, विभाग पूर्ण होना चाहिए। सब उपजातियाँ आ जानी चाहिएँ; और किसी ऐसी उपजाति का समावेश न हो जाय जो कि विभाज्य के अन्तर्गत न हो।

ऊपर की तीनों बातों का पालन बिना विषय-ज्ञान के बहुत कठिन है। विभाग के विषय में कोरे आकारवाद से काम नहीं चलता। आकारवादियों ने विभाग को आकारिक बनाने का प्रयत्न किया है; किंतु वह यत्न सफल नहीं हुआ।

द्विवर्गाश्रित विभाग (Division by Dichotomy)

विभाग की इन भूलों से बचने के लिये एक उपाय सोचा गया है। इस रीति के अनुकूल विभागों में सदा दो ही वर्ग किए जाते हैं। ये दोनों वर्ग एक दूसरे के व्याघातक होते हैं; इसलिये इसके द्वारा ऊपर कहे हुए तीनों नियमों का पालन हो जाता है। इस प्रकार के विभाग में कोई विभाग-मूल ले लिया जाता

है और दो वर्ग कर दिए जाते हैं। एक वर्ग में तद्गुण विशिष्ट व्यक्तियाँ रक्खी जाती हैं और दूसरे में वे व्यक्तियाँ, जो उस गुण से शून्य होती हैं। प्रोफेरी का वृत्त इसी प्रकार के विभाग का फल है। इस प्रकार के विभाग के और भी उदाहरण दिए जाते हैं।



इस प्रकार के विभाग में निम्न-लिखित दोष हैं—

द्विवर्गाश्रित विभाग के दोष

(१) दो व्याप्यों या उपजातियों में से एक का ज्ञान तो होता है, और दूसरी जाति, जो प्रायः पहली की अपेक्षा बड़ी होती है, अज्ञात रहती है।

(२) दूसरी उपजाति में पहली जाति को छोड़कर प्रायः सब संसार आ जाता है और उसमें ऐसी

जातियाँ भी आ सकती हैं जो व्यापक जाति के अन्तर्गत नहीं हो सकतीं। (३) व्यापक जाति की एक सी व्याप्य जातियों में से किसी एक को अनुचित प्रधानता मिल जाती है। ऊपर दिए हुए विभाग में एशियावालों को और सब मनुष्यों से प्रधानता मिल जाती है। (४) इस प्रकार के विभाग में उपजातियों के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं होता। (५) जब तक विभाग-मूल का ठीक ठीक चुनाव न हो, तब तक इस विभाग की सफलता असम्भव है; और बिना विषय-ज्ञान के विभाग-मूल का ठीक चुनाव नहीं हो सकता। यदि कोई मनुष्य का विभाग जरायुज और अजरायुज में कर दे, तो वह अवश्य हास्यास्पद बन जायगा। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्यों का विभाग पूँछवालों और बिना पूँछवालों में कर दे, तो आकारवादियों के अतिरिक्त और कोई इस विभाग की सराहना न करेंगे। यदि कोई सत्ता का विभाग करते हुए इतनी छलाँगें मारे कि सत्ता के दो विभाग करे—वनस्पति शास्त्रज्ञ और अवनस्पति-शास्त्रज्ञ; अथवा जानवरों का विभाग—कविता करनेवाले और कविता न करनेवाले, तो उस विभाग करनेवाले की भी पूर्व-वर्णित विभाग करनेवाले की सी दशा होगी।

इन दोषों से बचने के लिये निम्न-लिखित दो और नियमों का पालन आवश्यक है—

(४) विभाग-मूल न तो ऐसा होना चाहिए जो विभाज्य वा व्यापक जातियों के सब व्यक्तियों में पाया जाता हो,

और न ऐसा हो जो किसी व्यक्ति में भी न पाया जाय।

(५) विभाग क्रमशः होना चाहिए; अर्थात् व्यापक जातियों में बहुत दूर का सम्बन्ध न हो।

विभाग का विषय बहुत कठिन है और इसमें बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। विभाग करने में लोग विरोधी (Coutrary) और भिन्न वा विविक्त (Distinct) का भेद भूल कर विरोधी के अन्तर्गत ही भिन्न को भी कर देते हैं। विविक्त वा भिन्न (Distincts) श्रेणीबद्ध तो हो जाते हैं, किन्तु उनका विभाग नहीं हो सकता; श्रेणीबद्ध पदार्थों में ऊपर की श्रेणी में नीचे की श्रेणी आ जाती है। आध्यात्मिक क्रिया के विचारात्मक और व्यवहारात्मक दो विभाग किए जाते हैं; किंतु ये दोनों क्रियाएँ एक दूसरी की विरोधिनी नहीं हैं। ये दोनों क्रियाएँ एक दूसारी के ऊपर आश्रित हैं। इस बात को विशेष व्याख्या क्रोची (Croce) की "लाजिक" (तर्क शास्त्र) में अच्छी तरह से की गई है। कभी कभी लोग निशेषाध्यात्मक शब्द को भावात्मक बना लेते हैं। अधर्मी का अर्थ केवल यही नहीं है कि वह धर्म्म की बातों से उदासीन हो, वरन् वह पूर्ण अन्यायी और दुरात्मा भी हो। अमित्र का अर्थ शत्रु ही लिया जाता है; उदासीन लोगों को अमित्र की संज्ञा नहीं दी जाती। विभाग करते हुए इन सब बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

तार्किक विभाग को बहुत से लोग भौतिक वा अंशाश्रित (Physical Division) और आध्यात्मिक गुणाश्रित विभाग

(Metaphysical Division) के साथ मिला देते हैं। तार्किक विभाग जातियों के विभाग को कहते हैं। भौतिक विभाग किसी व्यक्ति के अंगों के विभाग को कहते हैं। कुरसी का विभाग पाए, तकिए, बाजू, बैठक वा चिड़ियों का विभाग सिर, पर, पैर और मनुष्य का विभाग, सिर, धड़ और टाँगें है। ये सब भौतिक विभाग हैं। कभीःकभी बहुत से भौतिक विभाग तार्किक विभाग में शामिल हो जाते हैं। देश का विभाग प्रान्त, कमिश्नरी, जिले और तहसील में करना इसी प्रकार का भौतिक विभाग है। इसके साथ ही यह बात भी अवश्य माननी पड़ेगी कि शुद्ध तार्किक विभाग बहुत कठिनाई से मिलते हैं। आध्यात्मिक विभाग भी भौतिक विभाग की ही भाँति है। इसमें व्यक्ति का विभाग नहीं वरन् तद्बोधक विचार के अंतर्गत गुणों का किया जाता। खरिया का सफेदी, लंबाई, चौड़ाई, चिकनापन, सख्ती इत्यादि गुणों में विभाग करना आध्यात्मिक विभाग का अच्छा उदाहरण है।

तार्किक और भौतिक विभाग

शब्दों का जो विभाग किया जाता है, वह भी इसी प्रकार है; किंतु उस के पक्ष में यह बात अवश्य है कि वह पदार्थों का विभाग नहीं है। यों तो सभी विभाग सुभीते के लिये होते हैं; किंतु इन अप्राकृतिक विभागों में सिवाय सुभीते के और कोई गुण नहीं है। प्राकृतिक विभाग में बड़ी कठिनाई है। प्रत्येक विज्ञान के अपनी अपनी दृष्टि से पृथक् विभाग हैं। वृक्षों और पौधों का जो

प्राकृतिक और अप्राकृतिक विभाग

विभाग आयुर्वेद की दृष्टि से ठीक है, वही विभाग वनस्पति शास्त्र की दृष्टि से दूषित है। अब यह कहना बड़ा कठिन है कि कौन सी दृष्टि ठीक है। वनस्पति शास्त्र वा प्राणि शास्त्र की दृष्टि एक प्रकार से निरपेक्ष समझी जाती है। इसी कारण उन विज्ञानों का विभाग मान्य समझा गया है; किंतु पूर्ण निरपेक्षता उनमें भी नहीं है। आजकल प्राणि शास्त्र के ग्रंथों में जो विभाग मिलता है, वह प्रायः विकास वाद का पक्ष लेकर किया गया है; और जब तक यह पूर्णतया सिद्ध न हो जाय कि विकास वाद का सिद्धान्त ठीक है, तब तक इन वर्गों को प्राकृतिक कहना संदिग्ध है। हमारा यह कहना नहीं है कि विकास वाद ठीक नहीं अथवा वर्त्तमान रीति से जो वर्गीकरण किया जाता है, वह मान्य नहीं। हमारा कहना केवल इतना ही है कि विज्ञान के दृष्टि कोण को संकुचित नहीं बनाना चाहिए और न वैज्ञानिकों में अन्धविश्वास की प्रथा डालनी चाहिए। विकास वाद से हमारे ज्ञान में जो व्यवस्था और एकाकारता प्राप्त हुई है, उसके लिये हम सभी विकास वाद के प्रचारकों के अनुगृहीत हैं; किंतु साथ ही हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि विकास वाद के अतिरिक्त और किसी कल्पना की गुंजाइश ही नहीं *। विकास वाद के अनुकूल जातियों का विभाग होना कठिन है, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार सब जातियाँ

---

* इसके लिये Border Lands in Science को पढ़ने से बड़ा नेत्रोन्मिलन होगा।

उपजातियों से संबद्ध और श्रेणीवद्ध हैं। श्रेणीवद्ध जातियों में विभाग होना कठिन है। जानवरों का विभाग यदि विचारशील और बिना विचारशील दो उपजातियों में किया जाय, तो यह कहना कहाँ तक संभव है कि कौन सी जाति नितान्त विचार-शून्य है ! इसी प्रकार की आपत्तियाँ सभी विभागों में मिलेंगी।

वर्गीकरण

वर्गीकरण और विभाग में बहुत से लोग यह अंतर किया करते हैं कि विभाग का संबंध निगमनात्मक न्याय से है और वर्गीकरण का संबंध आगमनात्मक न्याय से है। किंतु यह भेद ठीक नहीं। दोनों ही के द्वारा संसार के पदार्थों का विन्यास (Arrangement) ठीक हो जाता है। विभाग में एक जाति को उसकी उपजातियों में बाँटना होता है; और वर्गीकरण द्वारा ऐसी व्यक्तियों की ऐसी जातियाँ बनाई जाती हैं जिससे कि उनके बारे में ठीक ठीक ज्ञान हो सके। वर्गीकरण में भी कभी ऊपर से नीचे चलना पड़ता है अर्थात् वर्ग के उपवर्ग बनाने पड़ते हैं। विभाग और वर्गीकरण दोनों ही ज्ञान को व्यवस्था देने के लिये हैं। भेद केवल इतना है कि विभाग की अपेक्षा वर्गीकरण में प्राकृतिक और स्वाभाविक भेदों का आश्रय लिया जाता है। वर्गीकरण में जातियों के स्वाभाविक संबंध भी निश्चित होते रहते हैं। ये सब बातें विचार के सुभीते, अतएव उसको नियम और ठीक ठीक व्यवस्था देने के लिये होती

वर्गीकरण किसे कहते हैं

हैं। किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमको उसे किसी विशेष वर्ग में रखना पड़ता है। अनुमान का कार्य्य वर्गों द्वारा ही होता है। जो लक्षण वर्ग का होता है, वही लक्षण वर्ग के अन्तर्गत व्यक्तियों वा उपसर्गों का भी होता है। वर्गीकरण से व्याप्ति निश्चित करने का काम सहज हो जाता है। विज्ञान में, विशेष कर प्राणी शास्त्र और वनस्पति शास्त्र में, वर्गीकरण का विशेष उपयोग होता है। इसके द्वारा जानवरों और पौधों की बनावट और उनके धर्म का ज्ञान प्राप्त करने में सुलभता होती है। यद्यपि जैसा ऊपर बतलाया गया है, जातियों के मुख्य और गौण गुणों में भेद करना बहुत कठिन है, तथापि बहुत से ऐसे गुण हैं जिनके साथ और गुण लगे हुए हैं। गुण भी अमीर और गरीब हुआ करते हैं। किसी गुण से तो बहुत अर्थ निकलता है और किसी से थोड़ा। यदि किसी ने भैंस को देखा हो और उसको देखकर वह कहे कि वह एक काला पदार्थ है, तो काला कह देने से बहुत बोध नहीं होगा—मालूम नहीं होगा कि वह जानदार चीज़ है या बेजान। पत्थर भी तो काला होता है। यदि जानदार है, तो यह नहीं मालूम होता कि चिड़िया है या चौपाया; क्योंकि कौवा भी तो काला होता है। सींगवाला कहने से बहुत अर्थ व्यक्त हो जाते हैं। सींगवाले से चौपाया मालूम होता है; क्योंकि सींग सिर्फ चौपायों ही के होते हैं, यद्यपि सब चौपाए सींगवाले नहीं होते। चौपाया कहने से उस का बच्चे को दूध पिलाने का भी भाव व्यक्त होता है। सींगवाला

कह देने से घोड़े, गधे की शङ्का नहीं रहती। ऐसे ही गुण वर्गों के बाँधनेवाले कहे जा सकते हैं।

वर्गीकरण दो प्रकार का होता है—एक प्राकृतिक और दूसरा अप्राकृतिक। प्राकृतिक वर्गीकरण तो प्राकृतिक एकाकारता के आधार पर होता है और अप्राकृतिक वर्गीकरण किसी सुभीते के लिये। पुस्तकों का विभाग उनके नाम के आदि वर्णों के हिसाब से करना अप्राकृतिक विभाग है। यहूदियों के तालमूद, तर्कशास्त्र, तंत्रशास्त्र, तिब्बत की यात्रा, तैत्तिरीय उपनिषद्, तिलस्मी अँगूठी, ताजीरात हिन्द यह सब पुस्तकें एक 'त' की पाटी में रक्खी जायँगी, किन्तु इनमें कोई प्राकृतिक संबंध नहीं है। यह संबंध बादरायण संबंध* से कुछ ही अच्छा है। इसी प्रकार अँग्रेजी कोषों के शब्दों का विभाग है। अमर कोष इत्यादि का विभाग बहुत प्राकृतिक है, किंतु वह इतने सुभीते का नहीं है। व्याकरण में भी अकारान्त और इकारान्त आदि शब्दों का भेद किया गया है, किंतु यह भेद बहुत अंश में प्राकृतिक है। प्राकृतिक भेद बहुत दिन की खोज ही के बाद जाने जा सकते हैं। एक बार निश्चित हो जाने पर उस जाति के सभी व्यक्तियों के विषय में नाना प्रकार के अनुमान का आधार बन जाते हैं। जहाँ पर प्राकृतिक भेद नहीं मिलते, वहाँ पर सुभीते के लिये कोई एक

वर्गीकरण के दो प्रकार

---

* अस्माकं बदरीचक्रे बदरी च तवांगने।
बादरायण सम्बन्धाद्यूयं यूयं वयं वयं॥

गुण आधार मान लिया जाता है। वनस्पति शास्त्र का बहुत सा वर्गीकरण उनके लिङ्ग-सूचक तन्तुओं की संख्या के आधार पर होता है। कभी कभी कृत्रिम वर्गीकरण प्राकृतिक वर्गों से मिल जाता है। वर्गीकरण के विषय में यह भी शंका उठाई जाती है कि आजकल कोई गढ़े गढ़ाए वर्ग नहीं माने जाते। विकास वाद ने यह सिद्ध कर दिया है कि वर्ग एक दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं; और कुछ बीच के भी वर्ग हैं, जो किसी वर्ग में नहीं आ सकते। इन बातों को मानते हुए भी वर्गीकरण न तो निष्फल ही है और न असंभव। उपजातियों का परिवर्तन दो एक वर्ष में तो हो नहीं जाता। इसके लिये सहस्रों वर्ष भी थोड़े हैं। इस काल के लिये व्यवहार दृष्टि से यह वर्ग स्थिर ही है। माध्यमिक वर्गों की स्थिति वर्गीकरण में बाधक नहीं। उनका अलग ही एक वर्ग बन सकता है। और यदि कुछ का वर्गीकरण नहीं हो सकता, तो यह बात युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती कि जिनका वर्गीकरण हो सकता है, उनका भी न किया जाय। अस्तु; जो हो, अच्छे वर्गीकरण के लिये नीचे लिखी बातें आवश्यक हैं।

वर्गीकरण के नियम

(१) वर्ग ऐसा होना चाहिए कि जिसके बारे में अधिक से अधिक बातें कही जा सकें। अर्थात् वर्ग में समान गुण अधिक से अधिक हों।

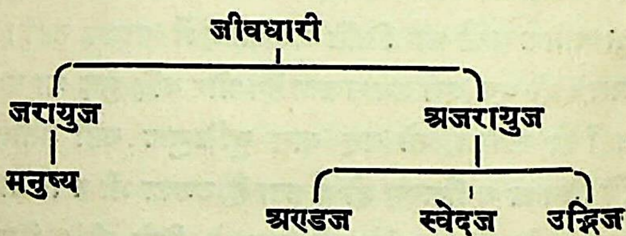
(२) वर्ग के एक व्यक्ति के लिये वही सब बातें कही जा सकें, जो वर्ग भर के लिये कही जाती हों।

(३) वर्ग के व्यक्तियों की अपने सवर्गी व्यक्तियों के साथ अधिक से अधिक समानता हो और अन्य वर्गीय व्यक्तियों के साथ कम से कम समानता हो।

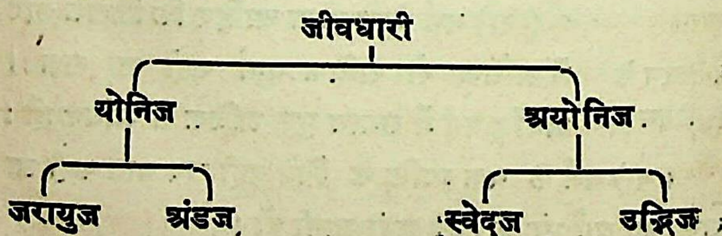
वर्गीकरण में सुभीता होता जाता है; किन्तु हम ज्ञान की पूर्त्ति के लिये अनन्त काल तक ठहर नहीं सकते। अपने ज्ञान के अनुकूल हम को अच्छे से अच्छा वर्गीकरण करना चाहिए। ऊपर के नियम हम को इसमें सहायता देंगे।

हिंदू शास्त्रों से विभाग और वर्गीकरण के उदाहरण

हमारे शास्त्रों में जानवरों का जो विभाग किया है, वह यहाँ पर लिखा जाता है। चरक में जानवरों का विभाग इस प्रकार किया गया है—



वैशेषिक के टीकाकार प्रशस्तपाद का विभाग इससे अच्छा है। वह इस प्रकार है—



सुश्रुत में मांस की उपयोगिता की दृष्टि से जानवरों का विभाग किया है।

उपास्वति ने जानवरों का विभाग उनकी इन्द्रियों के आधार पर किया है।

कृम्यादीनां पिपीलकादीनां भ्रमरादीनां मनुष्यादीनां यथा संख्यमेकैव वृद्धानि इन्द्रियाणि भवन्ति।

दो इन्द्रियोंवाले—

अपादिक नूपुरक इत्यादि कृमि, जिनमें स्पर्श और रसनेन्द्रिय होती हैं।

तीन इन्द्रियोंवाले—

पिपीलका इत्यादि, जिनमें स्पर्श, रसना और घ्राणेन्द्रिय होती हैं।

चार इन्द्रियोंवाले—

भ्रमर, वरट, सारंग, मक्षिका, दंश।

मशक इत्यादियों के स्पर्श, रसना, घ्राण और नेत्र होते हैं। पाँच इंद्रियोंवालों में चतुष्पद मत्स्य, उरग, भुजंग पक्षी हैं। मनुष्यादि भी इसी वर्ग में शामिल हैं। चरक में उपयोगिता के आधार पर औषधियों के नीचे लिखे हुए विभाग दिए हुए हैं—(१) जीवनीयानि, (२) सन्धानीयानि, (३) वर्ण्यानि, (४) कण्ठानि, (५) कण्डुघ्नानि, (६) छर्दिनिग्रहणानि, (७) पुरीष बिरजनीयानि, (८) मूत्रबिरजनीयानि।

मदनपाल निघन्टु में नीचे लिखा हुआ विभाग दिया गया है—

अभयादिवर्ग, शुण्ठ्यादिवर्ग, कर्पूर प्रभृतिसुगन्धि द्रव्यवर्ग, वटादिवर्ग, फलादिवर्ग, शाकवर्ग, इक्षुवर्ग, धान्यवर्ग।

इन विभागों में प्राकृतिकता की मात्रा बहुत अंश में पाई जाती है; किंतु इनका आधार ऊपरी है; इसलिये यह प्राकृतिक न कहा जायगा*।

पारिभाषिक शब्द (Sceintific Nomenclature and Terminology)

नामकरण और पारिभाषिक शब्द

यह वर्गीकरण विना शब्दों के नहीं चल सकता। कोई विचार भी बिना भाषा के नहीं रह सकता। यों तो भाषा में जितने जातिवाचक शब्द हैं, वे सब वर्ग ही हैं, किन्तु वे संबंध रहित हैं। उनको याद रखना अथवा उनसे उनके गुणों का कुछ अनुमान करना बड़ा कठिन है। वैज्ञानिक ग्रन्थों में जिन पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार किया जाता है, वे प्रायः ऐसे होते हैं कि उनसे कुछ न कुछ पता चल जाता है। वैज्ञानिक शब्द यौगिक या योगरूढ़ी होते हैं। वैज्ञानिक हर एक वर्ग के लिये बिलकुल स्वतंत्र शब्द नहीं गढ़ते; ऊँचे वर्ग में ही विशेषण लगाते चले जाते हैं। इसी लिये वनस्पति शास्त्र एवं अन्य विज्ञानों में पारिभाषिक शब्द बड़े लम्बे चौड़े हो जाते हैं।

---

*अँगरेजी में Nomenclature और Terminology में भेद किया गया है। जातियों के नामों को Nomenclature कहा है; और जो किसी व्यक्ति वा उसके अंगों के नाम हों, वे Terminology में आते हैं। जैसे—पराग, नाल, तन्तु इत्यादि।

इसी प्रकार रसायन शास्त्र में पदार्थों का नाम उनकी बनावट का ज्ञान करा देता है। एक तरह के प्रत्यय वा उपसर्ग से एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध व्यञ्जित होता है। गंधिद् (Sulphate) में इद् से प्रकट होता है कि गंधक के साथ ४ अंश अम्लजन (Oxigen) का योग है। शब्द का विश्लेषण करने से उसका पूरा पूरा अर्थ लग जाता है। युरोप में पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में लैटिन भाषा का प्रयोग किया जाता है, जिससे वह युरोप के सभी देशों में समझी जा सके। जो काम युरोप में लैटिन भाषा से चलता है, वही काम भारतवर्ष में संस्कृत भाषा से चल सकता है; और विज्ञान की उन्नति के लिये यह परम आवश्यक है कि सब प्रान्तीय भाषाओं के एक से पारिभाषिक शब्द हों।

सातवें अध्याय पर अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) विभाग किसे कहते हैं? विभाज्य, विभाग फल और विभागमूल शब्दों की व्याख्या कीजिए।

(२) विभाग के नियम बतलाइए। बिना विषय ज्ञान के यह नियम कहाँ तक प्रयुक्त हो सकते हैं?

(३) तार्किक, भौतिक और आध्यात्मिक विभाग में अंतर बतलाइए। उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।

(४) नीचे लिखे हुए विभागों की विवेचना कीजिए और यह भी बतलाइए कि इनमें किन किन नियमों का उल्लंघन होता है—

मनुष्यों का पुण्यात्मा और पापात्मा में।

मनुष्यों का काले और गोरे में।

मनुष्यों का शिक्षित और गाँव में रहनेवालों में।

पुस्तकों का संस्कृत, हिन्दी ,वैदिक और अवैदिक में; बंधी हुई तथा गैर बन्धी हुई में।

धातुओं का सफेद, मूल्यवान्, सख्त और मुलायम में।

पुस्तकें अंग्रेजी की और फरासीसी भाषा की।

भारतवर्ष का पंजाब, वंगाल, मद्रास, बम्बई और कलकत्ता हाता में।

धर्म का सच्चे और झूठे में।

(५) द्विवर्गाश्रित विभाग किसको कहते हैं ? इसमें किन दोषों के आ जाने की सम्भावना है ? उन दोषों से बचने के क्या साधन माने गए हैं ? वह साधन कहाँ तक ठीक हैं ?

(६) विभाग और वर्गीकरण में क्या भेद बतलाया जाता है? यह भेद कहाँ तक ठीक है ?

(७) विभाग और वर्गीकरण का अनुमान से क्या संबंध है ?

(८) वर्गीकरण कितने प्रकार का होता है ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।

(९) वर्गीकरण के नियम बतलाइए।

(१०) विकास वाद ने वर्गीकरण के विषय में क्या नई झलक डाली है ? क्या उससे वर्गीकरण में कुछ वाधा पड़ती है ?

आठवाँ अध्याय

लक्षण वा परिभाषा

तर्क शास्त्र का उद्देश्य यथार्थ ज्ञान है। यथार्थ ज्ञान के लिये शब्दों का ठीक ठीक अर्थ निश्चित करना परमावश्यक है; इसलिये परिभाषा की व्याख्या भी तर्क शास्त्र में स्थान पाती है। शब्दों को विना जाने बूझे उनका व्यवहार कर देने सें बड़ी हानि होती है। मृत शब्दों में यथार्थ अर्थ निश्चित करके जब तक उनमें जीवन का संचार न किया जाय, तब तक विचार की भी क्रिया जी... नहीं रह सकती। जो लोग केवल बड़े बड़े शब्द सुनाकर ही लोगों के ऊपर प्रभाव डालते हैं, वे लोग विचार में उन्नति नहीं कर सकते। ऐसे लोगों की अज्ञानावस्था प्रकट करने के लिये तत्वज्ञानी सुकरात लोगों से साधारण शब्दों का अर्थ पूछा करता था। युरोपीय तर्क शास्त्र में परिभाषा का जन्मदाता सुकरात है। यथार्थ ज्ञान के लिये हमारे यहाँ प्रत्येक वस्तु का लक्षण जानना आवश्यक समझा गया है। लक्षण वस्तु के असाधारण धर्म को कहते हैं *। असाधारण धर्म वह है जो

लक्षण वा परिभाषा और तर्क शास्त्र में उसकी उपयोगिता

---

* लक्षणंत्व साधारण धर्म वचनम्।

और किसी पदार्थ में न पाया जाय। यह वह गुण है जिसके कारण उस पदार्थ का और पदार्थों से भेद किया जाता है। यह असाधारण गुण ऐसा होना चाहिए कि वह उस वस्तु का स्वाभाविक गुण हो और उस वस्तु में आकस्मिक रीति से न आया हो।

परिभाष्य और परिभाषा

शब्द और परिभाषा का अन्वय व्यतिरेक संबंध माना जाता है। वे एक दूसरे के व्याप्य व्यापक होते हैं। बहुतों ने व्यतिरेक संबंध की मुख्यता के कारण केवल उसी को माना है। परिभाष्य और परिभाषा की व्याप्ति बराबर होती है। हम लक्षण देकर वस्तु का और पदार्थों से भेद कर देते हैं। पृथ्वी का लक्षण गन्धवती होना माना गया है। इसी गुण के कारण पृथ्वी को जलादि से भिन्न कर देते हैं। उस समय इस प्रकार का अनुमान किया जाता है कि पृथ्वी इतरेभ्यो भिद्यते गंधवत्वात यन्नैव तन्नैवं यथा जलम्। लक्षण कर देने में एकता और भेद लगा हुआ है। लक्षण से उस जाति के अन्तर्गत जितने व्यक्ति होते हैं, उन सब की एकता हो जाती है; किन्तु उसी के साथ उनका अन्य जाति-वाले व्यक्तियों से भेद भी कर दिया जाता है। लक्षण द्वारा हम को बहुत से अनुमानों के लिये हेतु वा मध्य पद मिल जाता है; क्योंकि लक्षण के असाधारण गुण के साथ बहुत से अन्य गुण गुथे हुए होते हैं।

परीक्षा लक्षण की संभवता वा असंभवता के विचार करने

को कहते हैं। परीक्षा द्वारा ज्ञात हो जाता है कि कौन से लक्षण दूषित हैं और कौन से ठीक। न्याय ग्रन्थों में लक्षण के प्रायः तीन दोष माने गए हैं-(१) अतिव्याप्ति (अलक्ष्य वृत्तित्वमति-व्याप्तिः)* जो लक्षण लक्ष्य को छोड़कर और पदार्थों में भी लग जाय, ऐसे लक्षण में अतिव्याप्ति दोष माना जाता है। गौ की यदि कोई परिभाषा सींगवाला जानवर करे, तो उस परिभाषा में यही दोष आ जायगा; क्योंकि सींगवाले होने का लक्षण गौ के अतिरिक्त और चौपायों में भी पाया जाता है। मनुष्य का लक्षण यदि कोई जीवधारी होना बतलावे, तो यह लक्षण भी अतिव्याप्ति से दूषित होगा; क्योंकि जीवधारी मनुष्य के अतिरिक्त और भी प्राणी हैं।

भारतीय तर्क के अनुकूल लक्षण की परीक्षा

(२) अव्याप्ति (लक्ष्यैक देश वृत्तित्वमव्याप्तिः †) जो लक्षण लक्ष्य के एक ही देश में लग सके, वह अव्याप्ति द्वारा दूषित समझा जाता है, अर्थात् उसमें लक्ष्य की व्याप्ति से लक्षण की व्याप्ति कम होती है। जैसे, गौ कपिला गौ को कहते हैं। दूसरा उदाहरण लीजिए। मनुष्य वे जीवधारी हैं जो कविता करते हैं। कविता करना मनुष्य जाति का गुण नहीं। यह लक्षण मनुष्य जाति के थोड़े ही से भाग में पाया जाता है। कविता करनेवाले जीवधारियों की व्याप्ति मनुष्य की व्याप्ति से कम है।

---

* अलक्ष्ये लक्षणागमन मति व्याप्तिः अलक्ष्य में लक्षण का गमन अतिव्याप्ति है।
† लक्ष्ये लक्षणागमनम व्याप्तिः लक्ष्य में लक्षण का न जाना अव्याप्ति है।

(३) असंभव "असंभवश्च लक्ष्यमात्रावृत्तित्वं। यथा गौरेक-शफवशेन लक्षणं तस्यासंभवग्रस्तत्वात्।

जो लक्षण लक्ष्य में बिल्कुल न लग सके, वह असंभव समझा जाता है। जैसे यदि कोई कहे कि गौ एक खुरवाली होती है, यह लक्षण गौ जाति में नहीं घटता; क्योंकि सभी गौएँ चिरे हुए खुर (शफ) वाली होती हैं। यह लक्षण असंभव है। यदि कोई कहे कि मनुष्य पर वाला जन्तु है, तो यह लक्षण असंभव समझा जायगा; क्योंकि मनुष्य के पर नहीं होते। सार यह है कि लक्षण और लक्ष्य की व्याप्ति बराबर होनी चाहिए। यह समान व्याप्ति का नियम तीन ही प्रकार से टूट सकता है—(१) या तो लक्षण की व्याप्ति अधिक हो; उस अवस्था में अति व्याप्ति का दोष आवेगा। या (२) लक्षण की व्याप्ति लक्ष्य से कम होगी। इस हालत में अव्याप्ति दोष होगा; और या (३) तीसरी हालत वह हो सकती है जब कि लक्षण की व्याप्ति लक्ष्य से बिल्कुल भिन्न हो। इसको असंभव कहते हैं। हमारे यहाँ यही तीन दोष लक्षण में माने गए हैं; और जो लक्षण इन दोषों से दूषित नहीं हैं, वे ठीक समझे जाते हैं*। अब हम युरोपीय तर्कवेत्ताओं द्वारा प्रति-पादित लक्षण संबंधी नियमों को लिखते हैं।

---

* कुछ ग्रंथकारों ने लक्षण में दो प्रकार के और दोप बतलाए हैं। पहला अन्योन्याश्रय और आत्माश्रय दोप है। अन्योन्याश्रय दोप की इस प्रकार परिभाषा

जिस वस्तु की परिभाषा देनी हो, उसके मुख्य गुण देने चाहिएँ। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि परिभाषा में उस वस्तु की जाति और उसके विशेष वा व्यावर्त्तक गुण दिए जायँ। मनुष्य विचारवान् जीवधारी है। विचारवान् विशेष वा व्यावर्त्तक गुण है और जीवधारी जाति है। जिस परिभाषा में दोनों अंगों में से किसी एक अंग की कमी हो, वह दूषित समझी जायगी। केवल इतना ही नहीं, जाति निकटवर्त्तिनी होनी चाहिए। यदि कोई कहे कि मनुष्य विचारवान् वस्तु है, तो वस्तु मनुष्य की निकटवर्त्तिनी जाति नहीं। फिर पुराने तर्कशास्त्रियों का मत है कि व्यावर्त्तक गुण ही देना चाहिए। वह गुण न तो साधारण गुण (Propetry) हो और न वह आकस्मिक (Accident) हो। आकस्मिक गुण पर तो परिभाषा नहीं रची जा सकती है; किन्तु यदि वह

युरोपीय तर्क के अनुसार लक्षण की परीक्षा

की गई है—"स्वग्रह सापेक्षग्रह सापेक्षग्रहकत्वं अन्योन्याश्रयत्वे" अर्थात् स्वज्ञान के प्रति जो ज्ञान अपेक्षा करे, उसी ज्ञान के प्रति पुनर्वार यदि स्वज्ञान अपेक्षा करे, तो उस स्थल में अन्योन्याश्रय दोष घटता है। जैसे—गौ किसको कहते हैं, जो भैंस से भिन्न हो; और भैंस किसको कहते हैं—भैंस वह है जो गौ से भिन्न हो। यहाँ पर गौ का ज्ञान भैंस के ज्ञान का आश्रय करता है और भैंस का ज्ञान गौ के ज्ञान का आश्रय करता है। यही अन्योन्याश्रय दोष है। आत्माश्रय दोष की इस प्रकार परिभाषा की गई है—"स्वापेक्षा पादक प्रसंगत्वं आत्माश्रयत्वं" अर्थात् जो अपनी अपेक्षा का जनक हो, वह आत्माश्रय दोष है। जैसे—ज्वर घटित उपसर्गयुक्त रोग का नाम ज्वर है। यहाँ पर ज्वर से ज्वर का ज्ञान नहीं हो सकता। यहाँ पर ज्वर शब्द अपनी ही अपेक्षा करता है; इसलिये यहाँ पर आत्माश्रय दोष आ जाता है।

आकस्मिक गुण सहज और जातीय हो, तो वह भी साधारण गुण के समान हो जाता है और उसका प्रयोग परिभाषा में किया जा सकता है। आजकल के लोग व्यावर्त्तक गुण को स्थिर और अचल नहीं मानते। वे परिभाषा के संबंध में साधारण गुण, व्यावर्त्तक जातीय और सहज आकस्मिक गुण में भेद नहीं करते। उन लोगों का कहना है कि किसी वस्तु की परिभाषा हमारे ऊपर निर्भर है। जिस दृष्टि से हम किसी वस्तु को देखते हैं, उसी दृष्टि के अनुसार उस वस्तु की परिभाषा बदलती जाती है। यदि मनुष्य को हम केवल प्राणिशास्त्र की दृष्टि से देखते हैं, तो उस दृष्टि से परिभाषा करने में शारीरिक संस्थान की विशेषता मुख्य वा व्यावर्त्तक गुण माना जायगा। यदि हम मनुष्य को तर्क शास्त्र की दृष्टि से देखते हैं, तो विचारवान् होना ही मनुष्य का मुख्य गुण समझा जायगा। यदि कर्त्तव्यशास्त्र की रीति से मनुष्य की परिभाषा की जाय, तो मनुष्य कर्त्तव्याकर्त्तव्य में भेद करने-वाला जीवधारी समझा जायगा। यदि धर्म की दृष्टि से देखा जाय, तो मनुष्य वह जीवधारी है जिसे परलोक का विचार करना पड़ता है। चित्रकार की दृष्टि से मनुष्य का आकार विशेष ही उसका मुख्य गुण है। यदि पशुओं की दृष्टि से मनुष्य की परिभाषा की जाय, तो ये सभी परिभाषाएँ गलत हो जायँगी। इस दृष्टि-भेद से परिभाषाओं में भेद होने के कारण हमारे यहाँ के ग्रंथों में परिभाषा के लिये बड़ी

स्वतंत्रता दी है। उन ग्रंथों में यह बतला दिया गया है कि जो लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव दोष से खाली हों, वे लक्षण समझे जायँगे।

(२) परिभाषा और परिभाष्य ऐसे होने चाहिएँ कि वे एक दूसरे के स्थान में रक्खे जा सकें। इन शब्दों की व्याप्ति बराबर होनी चाहिए; अर्थात् न उसमें ऊपर बताया हुआ अतिव्याप्ति दोष हो, न अव्याप्ति दोष हो। मनुष्य दो पैर से चलने वाले जीवधारी हैं, इस परिभाषा में दो पैर से चलनेवाला व्यावर्त्तक ठीक नहीं है; क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त पक्षी भी तो दो पैर से चलते हैं। मनुष्य कवि है, यह परिभाषा अव्याप्ति दोष से युक्त है; क्योंकि सब मनुष्य कवि नहीं होते। कवित्व गुण मनुष्य जाति के एक ही अंश में रह सकता है। परिभाषा की जाँच का मुख्य नियम यह है—वह परिभाषा ही क्या जो उस जाति को और जातियों से अलग न करे और जाति के सब व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त न हो? हमारे यहाँ परिभाषा और परिभाष्य की व्याप्ति अन्वय व्यतिरेक दोनों ही रीतियों से मानी है। एक प्रकार से यह नियम अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषों से रहित हो जाने की जाँच है।

(३) परिभाषा में परिभाष्य शब्द न आना चाहिए और न उसका पर्य्यायवाचक शब्द ही आना चाहिए। इस नियम के रखने का कारण यह है कि जब परिभाष्य शब्द आ गया, तब उसकी भी परिभाषा की आवश्यकता होगी। परिभाषा से

ज्ञान होता है। पर जब उसमें ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाय जिसकी परिभाषा मालूम नहीं, तब वह परिभाषा ज्ञान नहीं दे सकती। मनुष्य वह है जिसमें मानव-संबन्धी गुण हों। घोड़ा वह जानवर है, जिसको अश्व कहकर लोग पुकारते हैं। कोषाध्यक्ष उस मनुष्य को कहते हैं, जिसको सरकार कोष का अध्यक्ष बनाती है। ऐसी परिभाषों से कुछ भी ज्ञान नहीं होता। संस्कृत में इस दोष को आत्माश्रय दोष कहते हैं।

(४) परिभाषा स्पष्ट होनी चाहिए। अस्पष्टता चार प्रकार से हो सकती है—(क) कठिन शब्दों के प्रयोग से; (ख) द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोग से; (ग) आलङ्कारिक शब्दों के प्रयोग से; और (घ) वाक्य का संघटन ठीक न होने के कारण।

(क) हाथी एक बृहत्काय जरायुज होता है, जिसके श्रवण पुट शूर्पवत् होते हैं, जिसके पैर स्तम्भाकार होते हैं और जिसकी धरोन्मुख लम्बायमान शुंडरूपा घ्राणेन्द्रिय मानुषी कर का कार्य्य संपादन करती है। वैज्ञानिक परिभाषा प्रायः ऐसी ही कठिन होती है; किंतु उस पर यह दोष प्रयुक्त नहीं होता।

(ख) तोता वह द्विज है जो मनुष्य की भाषा बोल सकता है। यहाँ पर द्विज शब्द दो अर्थवाला है। द्विज या द्विजन्मा क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य को कहते हैं; और दो बार जन्म लेने के कारण पक्षी और दाँतों को भी कहते हैं।

(ग) अन्न मनुष्य का जीवन है। ऊँट मरुस्थल में पार

होने की नौका है। ज्ञान आत्मा का दीपक है। धन सब गुणों की खानि है। क्षमा तपस्वियों का आभूषण है। गुरु वह है जो ज्ञान के अंजन की शलाका से चक्षु को खोलता है। ये सब परिभाषाएँ विज्ञान और तर्क की दृष्टि से ठीक नहीं, किंतु काव्य और अलङ्कार की दृष्टि से बहुत उत्तम हैं। वाक्यों की रचना ठीक न होने के कारण भी परिभाषा के समझने में कठिनाई पड़ती है। जैसे—"हेतुवाले पक्ष में (निष्ठा)वृत्ति होवे जिसकी एवं भूत जो अभाव, जो अभाव ऐसा अर्थ करने से हेत्वाधिकरण में वर्तनेवाला जो अभाव, उस अभाव का अप्रतियोगी जो साध्य, उस साध्य के साथ हेतु का जो एकाधिकरणवृत्तित्व, वही हेतु के शिर पर व्याप्ति है।"

(५) परिभाषा जहाँ तक हो सके, अभावात्मक न होनी चाहिए। जो ज्ञान भाव से होता है, वह अभाव से नहीं होता। "घोड़ा गाय नहीं" इस कथन से घोड़े के विषय में बहुत कम ज्ञान होता है। यदि वह गाय नहीं, तो और कुछ भी हो सकती है। फिर अभाव भी तब तक ज्ञान नहीं दे सकता, जब तक उसके भाव का पूरा ज्ञान न हो। पाप किसे कहते हैं, जो पुण्य न हो। जब तक यह न मालूम हो कि पुण्य क्या है, तब तक पाप का ज्ञान नहीं हो सकता। यहाँ पर ऊपर बताया हुआ अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। प्रकृति क्या है, जो पुरुष न हो; और पुरुष क्या है, जो प्रकृति न हो। यह बात अँगरेजी भाषा के इस वाक्य में अच्छी तरह बताई गई है—

What is mind no matter
What is matter never mind

इस संबंध में एक और नियम बतलाया जाता है। वह यह है कि परिभाषा में व्यर्थ शब्दों का प्रयोग न होना चाहिए। व्यर्थ शब्दों का प्रयोग परिभाषा की स्पष्टता में हानि डालता है। मनुष्य बोलनेवाला विचारशील पुरुष है। 'बोलनेवाला' यह गुण व्यर्थ है; इसकी कोई आवश्यकता नहीं। इसके रखने से यह नहीं जाना जाता कि दोनों गुणों में से मुख्य गुण कौन सा है।

शब्दों की परिभाषा

परिभाषा के लिये उस पदार्थ की जाति वा व्यावर्त्तक गुणों का देना आवश्यक है। किंतु सब पदार्थों को हम जाति* के अन्तर्गत नहीं कर सकते और न सब पदार्थों के व्यावर्त्तक गुण ही निश्चित किए जा सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो किसी जाति के अंतर्गत नहीं होते। कुछ ऐसे हैं जो केवल गुण होते हैं। जैसे—सुफेदी, लाली, चौड़ाई। ऐसे शब्दों की परिभाषा कठिन है, क्योंकि वे स्वयं गुण हैं। इनकी परिभाषा किसी और

परिभाषा की सीमा

---

* आकाशादि जो एक ही हैं; वे जाति का विषय नहीं बन सकते। जाति के बाधक नीचे की कारिकावली में भली प्रकार बतलाए हैं—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसंबंधो जातिबाधकसंग्रहः॥

लक्षण से नहीं हो सकती। फिर कुछ शब्द व्यक्तिवाचक हैं; उनके गुण स्थिर नहीं। जब गुण स्थिर नहीं, तब लक्षण कहाँ से आवें? शिवसहाय वा मोहन इन नामों के धारण करनेवाले जो व्यक्ति हैं, वे सब एक से गुण नहीं रखते और न एक सूत्र में बाँधे ही जा सकते हैं; इसी लिये उनकी परिभाषा कठिन है। वास्तव में तार्किक परिभाषा देना बहुत ही कठिन है।

परिभाषा और वर्णन

परिभाषा का संबंध बुद्धि से है और वर्णन का कल्पना से। परिभाषा जातिवाचक साधारण विचार की हो सकती है। वर्णन व्यक्ति का ही हो सकता है, किंतु यह व्यक्ति अपनी जाति का प्रतिनिधि समझा जा सकता है। बालकों के मुख से घोड़े *का वर्णन उत्तर रामचरित में महाकवि भवभूति ने कराया है। बालकों के मुख से यह वर्णन कराने का मनोवैज्ञानिक कारण है। परिभाषा की प्रारंभिक अवस्था वर्णन ही है। जब तक विचार मानस-मूर्त्तियों से साधारण विचार वा बोध (Conception) की कोटि में नहीं आता,

---

* यह वर्णन इस प्रकार है—

पाछे पूँछ होत इक लंबी पुनि पुनि ताहि हिलावै।
चारि खुंभ अत्यंत रुचिर जिहि दीरघ ग्रीव सुहावै॥
नित नूतन तृन हरित चरन जो चपल चारु चित भावै।
दूर जात का कहहि संग चलि क्यों न लखहु वह जावै॥

तब तक परिभाषा करना कठिन है। अभी तक बहुत सी परिभाषाएँ वर्णनात्मक हैं। जो परिभाषाएँ उपमान पर अथवा एक नमूना बतलाकर की जाती हैं, वे सब वर्णनात्मक परिभाषा ही हैं। ऐसी परिभाषाओं की विज्ञान में विशेष प्राणिशास्त्र (Biology) में कमी नहीं। क्रोची (croce) तो बहुत से साधारण विचारों को शुद्ध साधारण विचारों (Pure concept) की कोटि में नहीं रखते; इनको ठीक तौर से वैज्ञानिक परिभाषा का विषय ही नहीं मानते।

फिर इन सब गणनात्मक साधारण विचारों की परिभाषा एक प्रकार से वर्णन ही समझी जायगी। परिभाषा में हमारे ज्ञान की वृद्धि के साथ परिवर्तन होते रहते हैं। पूर्व काल की परिभाषाएँ आजकल के ज्ञान के आलोक में दूषित ठहरती हैं। इसलिये पिछली परिभाषाओं की आलोचना करने में सावधान रहना चाहिए।

परिभाषाओं के प्रकार

परिभाषाएँ कई प्रकार की मानी गई हैं। अरस्तू ने परिभाषाओं के वास्तविक (Real) और शाब्दिक नाम से दो भेद किए थे। शाब्दिक के भी दो भेद किए थे—एक वह जिसका वास्तविक सत्ता से काम न हो; केवल शब्द से काम हो, चाहे वह पदार्थ वास्तव में हो या न हो। जैसे कल्प वृक्ष वह वृक्ष है जिसके नीचे बैठनेवाले पुरुष की सब कामनाएँ इच्छा मात्र से पूर्ण हो जायँ। दूसरी प्रकार की वे परिभाषाएँ हैं जो शब्दों का प्रचलित अर्थ बतलाती हों; जैसे

बिजली बादल की चमक है। इन्द्रधनुष वह धनुष है जो बादलों में रंग बिरंगा दिखाई पड़ता है। घोड़ा सवारी देने-वाला जानवर है। गाय दूध देनेवाला जानवर है; इत्यादि। इस हिसाब से वास्तविक परिभाषाएँ वे हैं जो परिभाष्य का वास्तविक वा वैज्ञानिक अर्थ बतलावें। यह भेद साधारण और वैज्ञानिक परिभाषाओं का है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि परिभाषाएँ ज्ञान की वृद्धि के अनुकूल बदलती रहती हैं। साधारण परिभाषाएँ पीछे संशोधित होकर वैज्ञानिक हो जाती हैं। इन्द्र-धनुष की वैज्ञानिक परिभाषा इस प्रकार होगी—सूर्य्य की किरणों के जल-कण-पूर्ण वायु में होकर गुजरने से वर्तन (Rafrection) के कारण जो रंग बन जाते हैं उन्हें इन्द्र-धनुष कहते हैं। इस प्रकार की परिभाषा को जनन सम्बन्धी (Genetic) कहते हैं; क्योंकि इसका सम्बन्ध उत्पत्ति से है। जल वह पदार्थ है जो हरितजन (Hydrogen) और ओषजन (Oxygen) के क्रमशः दो और एक भाग मिलाने से बनता है। वृत्त (Circle) वह है जो किसी लकीर को एक धरातल के एक विन्दु पर घुमाने से बन जाय।

वास्तविक और शाब्दिक परिभाषाओं के सम्बन्ध में एक यह भी प्रश्न उठाया गया है कि परिभाषाएँ शब्द की होती हैं अथवा पदार्थ की। कुछ आचार्य्यों (जैसे मिल) ने सब परिभाषाओं को शाब्दिक कहा है। पर यह भेद वृथा है। भाषा, विचार और वस्तु का सम्बन्ध बतलाते हुए पहले अध्याय में

कहा गया है कि तर्क शास्त्र का तीनों से सम्बन्ध है। परिभाषा का भी तीनों से ही सम्बन्ध है। ऐसा कोई शब्द नहीं, जिसका किसी न किसी प्रकार की सत्ता से सम्बन्ध न हो।

परिभाषा और विभाग दोनों ही के द्वारा ज्ञान में स्पष्टता आती है। परिभाषा द्वारा शब्द की शक्ति स्पष्ट होती है।

परिभाषा और विभाग

परिभाषा से उन गुणों का ज्ञान होता है जिनके द्वारा वह जाति अन्य जातियों से पृथक् की जाती है। विभाग से उन उन जातियों का पता लग जाता है जो एक जाति के अन्तर्गत होती हैं। प्रत्येक परिभाषा से विभाग के लिये सामग्री मिल जाती है और प्रत्येक परिभाषा से विभाग के लिये विभाग-मूल वा व्यावर्तक गुण भी मिल जाता है। ऊपर बतलाया गया है कि परिभाषाएँ अभेद और भेद, एकीकरण और पृथक्करण दोनों के लिये सामग्रीरूप हैं। जिन गुणों द्वारा जाति के व्यक्तियों को एक समूह में बाँधा जाता है, उन्हीं गुणों द्वारा उस जाति को अन्य जातियों से पृथक् किया जाता है। अभेद के साथ भेद लगा हुआ है। यही विचार का नियम है। विभाग में भी केवल यह भेद ही नहीं है; उसमें भेद के साथ अभेद भी लगा हुआ है।

जिस विभाग मूल से विभाग किया जाता है, वही विभाजित व्यक्तियों की परिभाषा का आधार बन जाता है। विभाग और परिभाषा दोनों ही विचार के विकास में योग देते हैं। विभाग से शब्द की व्याप्ति वा वस्तुवाचकता जानी जाती है

और परिभाषा से शब्द की गुणवाचकता स्पष्ट होती है। शब्द का अर्थ जब तक दोनों ही रीतियों से न जाना जाय, तब तक स्पष्ट नहीं होता। इसी लिये परिभाषा और विभाग दोनों ही ज्ञान के लिये आवश्यक हैं।

नमूने के तौर पर कुछ परिभाषाओं का संशोधन

(१) सिपाही उस बहादुर मनुष्य को कहते हैं, जो अपने देश के लिये मरने को तैयार हो।

आलोचना—यह परिभाषा नहीं है, वर्णन है। 'बहादुर' शब्द वृथा है। जो अपने देश के लिये मरने को तैयार हो, उसको बहादुर नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे।

संशोधित—सिपाही वह मनुष्य है जो अपने देश के लिये मरने को तैयार हो

आलोचना—अब भी यह अव्याप्ति दोष से दूषित है; क्योंकि बहुत से सिपाही राजद्रोह वा धन के हेतु फौज में शामिल होते हैं।

पुनः संशोधन—सिपाही वह मनुष्य है जो देश, धन वा अन्य किसी हेतु से मरने के लिये तैयार हो।

आलोचना—यह परिभाषा अब भी ठीक नहीं; क्योंकि सब लोग मरने को तैयार नहीं रहते। और फिर एक हिसाब से इसमें अतिव्याप्ति भी है; क्योंकि यदि कोई केवल दुश्मनी या अपने घरू झगड़े के कारण मरने को तैयार हो, तो वह सिपाही न कहलावेगा।

अन्तिम संशोधन—सिपाही वह मनुष्य है जो देश, धन वा किसी सार्वजनिक उद्देश्य से लड़ने का वायदा करता है।

(२) विश्वविद्यालय मनुष्यों की वह संस्था है जो पढ़ाने के काम में लगी रहती है।

आलोचना—यह पहले नियम को भंग करती है। इसमें अतिव्याप्ति दोष है।

इसका उचित व्यावर्तक इस प्रकार से होना चाहिए—जो राज्य वा समाज की आज्ञा से पाठ्य-क्रम निश्चित करके उसके अनुकूल शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों को उचित योग्यता प्राप्त करने पर पदवी दे सके।

(३) नागरिक वह व्यक्ति है जिसके माता पिता नागरिक हों।

इसमें आत्माश्रय दोष है। परिभाषा में परिभाष्य का प्रयोग है।

इसका रूप होना चाहिए—वह मनुष्य है जो किसी नगर में बसकर वहाँ के नियमों से बँधा हो।

(४) तर्कशास्त्र ज्ञान का दीपक है।

आलोचना—यह परिभाषा आलंकारिक भाषा में है।

संशोधन—तर्क शास्त्र यथार्थ विचार के नियमों का विज्ञान है।

(५) संन्यासी वह है जो गेरुआ वस्त्र पहनता हो।

आलोचना—गेरुआ वस्त्र पहनना संन्यासी का मुख्य लक्षण नहीं।

संशोधित—वह मनुष्य जो संसार को त्याग कर अपने को धर्म-संबंधी कार्य्यों में लगावे।

आठवें अध्याय पर अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) लक्षण की तर्क शास्त्र में उपयोगिता बतलाइए।

(२) भारतीय और युरोपीय तर्क के अनुसार लक्षण की परीक्षा के नियम बतलाइए।

(३) क्या सब पदों की परिभाषा हो सकती है ? अगर नहीं हो सकती तो किस कारण ?

(४) वर्णन और परिभाषा में अंतर बतलाइए ?

(५) परिभाषा और विभाग में संबंध बतलाइए ?

(६) शाब्दिक, वास्तविक और जनन-संबंधी परिभाषाएँ किनको कहते हैं ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए। परिभाषा शब्द की होती है या वस्तु की ? इसमें मिल साहब की क्या राय है ?

(७) नीचे लिखी हुई परिभाषाओं की जांच कीजिए। यदि वे दूषित हैं तो इनमें क्या दोष हैं ? उत्तर भारतीय और युरोपीय दोनों न्यायों के अनुकूल दिया जाय।

(१) धन मद उत्पन्न करनेवाला पदार्थ है।

(२) त्रिभुज वह है जिसके तीन कोण मिलकर दो समकोणों के बराबर हों।

(३) अमीर लोग वे हैं जिनके बहुत से नौकर हों।

(४) सिंह एक हिंसक पशु है।

(५) मनुष्य वह जीवधारी है जो रोटी पकाकर खाता है।

(६) सूर्य्य सौर्य्य मंडल का केंद्र है।

(७) रोटी मनुष्य का जीवन है।

(८) सीधी रेखा दो विन्दुओं की कम से कम दूरी को कहते हैं।
(९) जिंदगी जीवन संबंधी क्रियाओं का संघात है।
(१०) मनुष्य जरायुज है।
(११) धर्म आध्यात्मिक विषयों के विश्वास को कहते हैं।
(१२) धर्म मन की वह शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्य बुद्धि और ज्ञानेंद्रियों का सहारा न लेकर अनंत को देखने के लिये समर्थ होता है।

[मैक्समूलर]

(१३) मनुष्य की पूँजी उसके धन का वह भाग है जिसके द्वारा वह अपनी रोजी कमाता है (मार्शल)
(१४) अल्लुमिनियम चाँदी से हलकी एक सफेद धातु है।
(१५) रुपया हिंदुस्तान में चलनेवाला चाँदी का सिक्का है।
(१६) गधा सपुच्छ विषाण शून्य चतुष्पद पालतू भारवाहक जरायुज है।
(१७) सत्य झूठ का प्रातिकूल है।
(१८) कंचन सब गुणों का आश्रय है।
(१९) नृत्य हर्ष और उल्लाससूचक क्रिया है।
(२०) विवाह गा बजाकर काठ में पैर देना है।

(८) नीचे लिखे हुए पदों के लिये उचित जाति और व्यावर्तक बतलाइए—घर, कुर्सी, कालेज, कपड़ा, बाइसिकिल, घड़ी, कवि, दावात।

नवाँ अध्याय

अलैंगिक वा अव्यवहित अनुमान

Immediate Inference

युरोप के नैयायिकों ने अनुमान के दो भेद किए हैं—एक वह जो किसी लिङ्ग वा मध्यवर्ती पद द्वारा होता है; और दूसरा वह जिसमें ऐसे पद की आवश्यकता नहीं होती। पहले को लैंगिक अनुमान कहेंगे और दूसरे को अलैंगिक अनुमान कहेंगे। लैंगिक अनुमान इस प्रकार का होता है—

लैंगिक वा अलैंगिक अनुमान में भेद

सब धातुएँ तत्व हैं।
सोना धातु है;
अतः सोना तत्व है।

इस अनुमान में सोने को तत्व सिद्ध किया है। सोना धातु है; इससे यह सिद्ध न होता कि सोना तत्व भी है। धातु इस अनुमान में लिङ्ग है। धातु के साथ तत्व होना लगा हुआ है। जो बात धातु के लिये ठीक है, वह सोने के लिये भी ठीक है। धातु के द्वारा सोने में तत्व होने का गुण निश्चित किया गया। इसीतरह के अनुमान को लैंगिक अनुमान वा निगमन (Deduction) कहते हैं। किंतु यदि हम "सब धातुएँ तत्व हैं।" केवल

एक इसी वाक्य से अनुमान निकालना चाहें, तो क्या अनुमान निकल सकता है? इससे यही अनुमान निकल सकता है कि कुछ तत्वों को धातु न माननेवाला झूठा है। और भी कई अनुमान इसी प्रकार निकाले जा सकते हैं। हम इससे यह भी अनुमान कर सकते हैं कि जो पदार्थ तत्व नहीं, वे धातु की संज्ञा में भी नहीं आ सकते। सब ब्राह्मण भारतवासी हैं, इससे यह अनुमान अवश्य निकल सकता है कि जो भारतवासी नहीं, वे ब्राह्मण नहीं हो सकते। इस तरह के अनुमान में किसी बाहर के पद का सहारा नहीं लेना पड़ता। जो बात उस वाक्य में गुप्त रीति से शामिल हो, उसी को स्पष्ट करके बाहर निकाल लिया जाता है। इसी लिये इस तरह के अनुमान (Eduction) निष्कर्षण कहलाते हैं। वेकन आदि कई आचार्य्यों ने इस प्रकार के अनुमान की उपयोगिता में यह शंका उपस्थित की है कि इससे सिवा पर्य्याय देने के ज्ञान की और कोई वृद्धि नहीं होती। यह शंका सभी प्रकार के अनुमानों में उठाई जा सकती है; क्योंकि अनुमान में वही होता है, जो अनुमेय में अव्यक्त रीति से मौजूद है। यदि अनुमान कोई बात बिना आधार के बाहर से जोड़ दे, तो वह प्रामाणिक न रहे। सभी अनुमान अनुमेय की अव्यक्त बातों को व्यक्त करते हैं। यही बात अलैंगिक अनुमान में भी है।

शब्दों को उलटपलट देने से केवल उनका पर्य्याय ही नहीं मिलता, वरन् उससे हमको और भी ज्ञान हो सकता

है। किस बात के मानने या न मानने से कौन सी बात सच या झूठ माननी पड़ेगी ? यदि हम उद्देश्य के स्थान में विधेय को रख दें, तो हमारे वाक्य की व्याप्ति में फरक आवेगा या नहीं ? इसके अतिरिक्त यदि हमको अनुमान की आवश्यकताओं के लिये भावात्मक वाक्य के स्थान में अभावात्मक वाक्य की जरूरत हो अथवा उसके विपरीत अभावात्मक वाक्य के स्थान में भावात्मक वाक्य की आवश्यकता हो, तो हम इस आवश्यकता को किस तरह पूरा कर सकते हैं ? इस तरह के अनुमान में हमको पदों वा वाक्य के गुणों के परिवर्त्तन की सीमा भी मालूम हो जाती है; अर्थात् किस अंश में यह परिवर्तन उचित है, यह भी मालूम हो जाता है। ये सब बातें आगे चलकर स्पष्ट हो जायँगी।

वाक्यों का विरोध

(Opposition of propositions)

विरोध शब्द का व्यवहार पारिभाषिक अर्थ में किया गया है। ए, ई, ऐ, ओ, चार प्रकार के वाक्यों में एक के विरोधी शेष

वाक्यों का विरोध

तीन वाक्य समझे जाते हैं। ए के विरोधी ऐ, ई, ओ हैं; ऐ के विरोधी ए, ई, ओ हैं। इसी प्रकार औरों के लिये भी समझ लेना चाहिए। वाक्यों के विरोध द्वारा हम को यह अनुमान हो सकता है कि एक ही पदवाले सब प्रकार के वाक्यों में से एक के सत्य वा मिथ्या होने से और सब वाक्यों में कौन सत्य वा मिथ्या, संदेहा-

त्मक है। ऐ और ई विपरीत (Contraries) गिने जाते हैं; और ओ अनुविपरीत (Sub-contraries) गिने जाते हैं; और ए और ओ एवं ई और ऐ परस्पर व्याघातक (Contradictories) गिने जाते हैं।

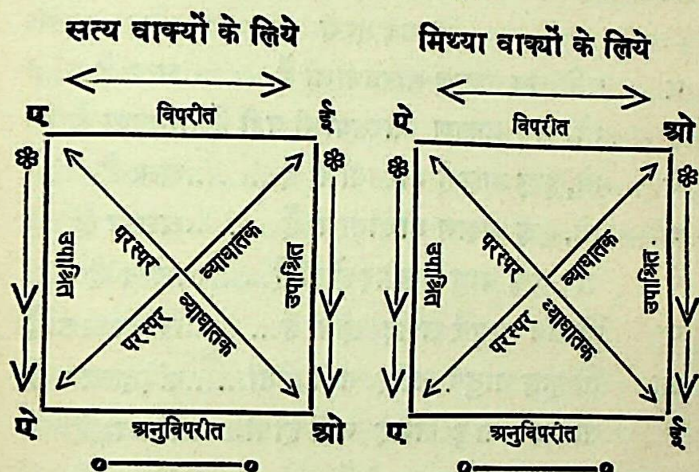
सत्य वाक्यों में ए और ऐ, इसी प्रकार ई और ओ अन्तर-व्यापी वा उपाश्रित (Sub-alterns) हैं। मिथ्या वाक्यों में ऐ और ए, इसी प्रकार ओ और ई अन्तरव्यापी गिने जाते हैं।

वाक्य के विरोध के नियम इस प्रकार दिए गए हैं:—दो विपरीत वाक्यों में एक अवश्य मिथ्या होना चाहिए; अर्थात्

वाक्य-विरोध के नियम

दोनों सत्य नहीं हो सकते, किंतु दोनों का मिथ्या होना सम्भव है। दो अनुविपरीत वाक्यों में से एक अवश्य सत्य होना चाहिए; अर्थात् दोनों सत्य हो सकते हैं; किंतु दोनों का मिथ्या होना असम्भव है। दो परस्पर व्याघातक वाक्यों में एक सत्य और दूसरा मिथ्या अवश्य होना चाहिए; अर्थात् यदि एक सत्य है, तो दूसरा मिथ्या; और यदि एक मिथ्या है, तो दूसरा सत्य अवश्य होना चाहिए। दो उपाश्रित वाक्यों में जो जिसका उपाश्रित है, वह उसका अनुकरण करता है। यदि पूर्ण व्याप्तिवाला सत्य है, तो अल्प व्याप्तिवाला भी सत्य है। किंतु अल्प व्याप्तिवाले वाक्य की सत्यता से पूर्ण व्याप्तिवाले वाक्य की सत्यता नहीं निकल सकती। अल्प व्याप्तिवाले वाक्यों के मिथ्यात्व से पूर्ण व्याप्तिवालों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है; किंतु पूर्ण व्याप्ति-

वाले वाक्यों के मिथ्यात्व से अल्प व्याप्तिवालों का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता। इन नियमों के अनुसार एक से पदवाले वाक्यों की सत्यता और मिथ्यात्व अनुमान करने के लिये नीचे के नक़शे काम में लाए जा सकते हैं।



जहाँ पर ———> × इस प्रकार तीर का चिह्न है, वहाँ पर विपरीतता समझनी चाहिए। यदि सत्य है तो मिथ्या और मिथ्या है तो सत्य। जहाँ ❀ इस प्रकार का चिह्न है, वहाँ पर सन्देह समझना चाहिए; अर्थात् कोई अनुमान नहीं निकाला जा सकता। जहाँ पर ———>——> दुहरे तीर के चिह्न हों, वहाँ पर अनुकरण समझा जाय। दोनों नक़शों के देखने से मालूम होगा कि दूसरा नक़शा पहले नकशे के विपरीत है। इसके साथ यह भी देखना चाहिए कि सत्य वाक्यों में पूर्ण

व्याप्तिवाले वाक्यों से और मिथ्या वाक्यों में अपूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों सें निश्चयात्मक अनुमान होता है। इसके विपरीत मिथ्या वाक्यों में पूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों से और सत्य वाक्यों में अल्प व्याप्तिवाले वाक्यों से कुछ नहीं सिद्ध होता ।

उदाहरण

ए	यदि सब ब्राह्मण भारतवासी हैं	........सत्य है
ई	तो, कोई ब्राह्मण भारतवासी नहीं है	...मिथ्या है
ऐ	तो, कुछ ब्राह्मण भारतवासी हैं	........सत्य है
ओ	तो, कुछ ब्राह्मण भारतवासी हैं	........असत्य है
ऐ	यदि कुछ धातुएँ सफेद होती हैं	........सत्य है
ए	तो सब धातुएँ सफेद होती हैं	.........संदेहात्मक है
ओ	तो कुछ धातुएँ सफेद नहीं होतीं	......संदेहात्मक है
ई	तो कोई धातु सफेद नहीं होती	......मिथ्या है
ए	यदि सब मनुष्य सुखी हैं	...............मिथ्या है
ऐ	तो कुछ मनुष्य सुखी हैं	...............संदेहात्मक है
ओ	तो कुछ मनुष्य सुखी नहीं हैं	........सत्य है
ई	तो कोई मनुष्य सुखी नहीं है	.........संदेहात्मक है
ऐ	यदि कुछ मनुष्य परवाले हैं	...........मिथ्या है
ए	तो सब मनुष्य परवाले हैं	...........मिथ्या है
ऐ	तो कुछ मनुष्य परवाले नहीं हैं	......सत्य है *
ई	तो कोई मनुष्य परवाले नहीं हैं	....सत्य है

* इसका अर्थ यह न समझा जाय कि कुछ परवाले नहीं हैं, तो बाकी परवाले हैं।

इसी प्रकार अन्य वाक्यों के संबंध में अनुमान निकालना चाहिए।

अलैङ्गिक अनुमान के सहारे वादी की बात का खण्डन व्याघातक वाक्यों द्वारा सहज में किया जा सकता है। यदि किसी पूर्णव्याप्ति वाले वाक्य का मिथ्यात्व सिद्ध करना हो, तो उसके व्याघातक अपूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों को पेश कर देने से बड़ा काम निकल आता है। यदि कोई कहे कि सब मनुष्य धनवान हैं, तो उत्तर में यदि हम एक भी निर्धन मनुष्य को पेश कर दें, तो फिर सब मनुष्य धनवान हैं, मिथ्या हो जायगा। इसकी विशेषता यह है कि एक व्याघातक उदाहरण से एक पूर्ण व्याप्तिवाले वाक्य की सत्यता को पलट सकते हैं। अपूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों का मिथ्या साबित करना कठिन है। उसके लिये पूर्ण व्याप्तिवाला वाक्य सत्य साबित करना पड़ेगा; और फिर सदा इस बात का भय लगा रहेगा कि वादी एक विपरीत उदाहरण देकर हमारे ऊपर तख्ता न उलट दे; इसलिये पूर्ण व्याप्तिवाली प्रतिज्ञा करने में सावधान रहना चाहिए।

यह अनुमान बहुत उपयोगी तो नहीं है, किन्तु इनसे मानसिक व्यायाम अच्छा होता है।

वाक्यों का परिवर्तन

वाक्य का परिवर्तन उस प्रकार के अव्यवहित अनुमान को कहते हैं जिसमें उद्देश्य पद (Subject) विधेय पद (Predi-

cate) बनाया जाय और उसके विपरीत विधेय पद उद्देश्य पद का स्थान ले ले। जिस वाक्य का परिवर्तन किया जाता है, उसको अनुलोम कहते हैं; और जो परिवर्तन का फल होता है, उसको विलोम कहते हैं।

परिवर्त्य वाक्य—सब धातुएँ तत्व हैं (ए)

परिवर्तित वाक्य—कुछ तत्व धातुएँ हैं (ऐ)

इस परिवर्त्तन में निम्नलिखित नियमों का अनुसरण करना पड़ता है—

(१) परिवर्त्य और परिवर्त्तित का गुण एक ही होना चाहिए। यदि एक भावात्वक है तो दूसरा भी भावात्मक होना चाहिए; और यदि एक निषेधात्मक है, तो दूसरा भी निषेधात्मक होना चाहिए।

(२) जो पद परिवर्त्य में अंश व्याप्ति रखता है (अव्याप्त है), वह परिवर्त्तित वाक्य में पूर्ण व्याप्तिवाला न होना चाहिए; अर्थात् अव्याप्त पद अव्याप्त रहता है; व्याप्त अव्याप्त हो सकता है; किंतु अव्याप्त व्याप्त कदापि नहीं हो सकता। ए का परिवर्त्तित वाक्य ऐ होता है; क्योंकि विधेय पद अव्याप्त है; वह उद्देश्य पद को प्राप्त होकर भी अव्याप्त रहेगा।

ई का परिवर्त्तित ई होता है। दोनों पद अव्याप्त हैं; इसलिये एक सें ही रहेंगे। ऐ का परिवर्त्तित वाक्य ऐ होता है। दोनों पद अव्याप्त हैं; इसलिये एक से ही रहेंगे।

ओ का परिवर्त्तन नहीं हो सकता। वह निषेधात्मक वाक्य

है। विधेय पद व्याप्त है। उसके स्थान में अव्याप्त पद नहीं आ सकता।

ए के परिवर्त्तन को संकोचात्मक (Conversion per limitation) कहेंगे; क्योंकि इस क्रिया से परिमाण का संकोच हो जाता है।

ए का साधारण परिवर्त्तन नहीं हो सकता। ई और ऐ का साधारण परिवर्त्तन हो सकता है। ओ का परिवर्त्तन नहीं होता।

उदाहरण—

धूमवान् पदार्थ अग्निवान् हैं—ए

कुछ अग्निवान् पदार्थ धूमवान् हैं—ऐ

कोई मनुष्य देवता नहीं है—ई

कोई देवता मनुष्य नहीं है—ई

कुछ मनुष्य कवि होते हैं—ऐ

कुछ कवि मनुष्य होते हैं *—ऐ

इस तरह के अनुमान में एक उद्देश्य पद और विधेय पद दोनों को व्याप्ति (Denotation) में माना है। यह मत दोषयुक्त है। ठीक मत के अनुसार उद्देश्य का अर्थ व्याप्ति में लगना चाहिए और विधेय पद की गुण-वाचकता देखनी चाहिए।

---

* इसका अर्थ यह न समझा जाय कि कुछ कवि मनुष्य के अतिरिक्त और किसी जाति के भी होते हैं।

प्रतिवर्तन वा गुणभेद

इस रीति से भावात्मक वाक्य निषेधात्मक बतलाए जाते हैं और निषेधात्मक भावात्मक बतलाए जाते हैं। दूसरी रीति का प्रयोग करने के लिये भावात्मक पद को निषेधात्मक बनाना पड़ता है और वाक्य का गुण बदलना पड़ता है; अर्थात् यदि वह वाक्य भावात्मक है, तो उसको अभावात्मक बनाना पड़ता है; और यदि वह अभावात्मक है, तो उसको भावात्मक बनाना पड़ता है।

उदाहरण—

प्रतिवर्त्य वाक्य—ए—राजा भोज न्यायी राजा था।

प्रतिवर्त्तित वाक्य—ई—राजा भोज अन्यायी राजा न था।

प्रतिवर्तन वाक्य—ई—कोई पशु मनुष्य नहीं होते।

प्रतिवर्त्तित वाक्य—ए—सब पशु अमानव होते हैं।

प्रतिवर्त्य वाक्य—ऐ—कुछ धातुएँ श्वेत होती हैं।

प्रतिवर्तित वाक्य—ओ—कुछ धातुएँ श्वेत नहीं होतीं।

प्रतिवर्त्य वाक्य—ओ—कुछ धातुएँ श्वेत नहीं होतीं।

प्रतिवर्त्य वाक्य—ए—कुछ धातुएँ अश्वेत होती हैं।

ओ का परिवर्तन भी गुण भेद क्रिया के पश्चात् सहज में हो सकता है; यथा—कुछ धातुएँ श्वेत नहीं हैं। गुण भेद से इसका रूप "कुछ धातुएँ अश्वेत हैं।" हो जायगा। इसको निषेधात्मक परिवर्तन (Cc nversion by negation) कहते हैं।

निषेधात्मक परिवर्तन में गुणभेद हो जाता है; जैसे— सब मनुष्य नाशवान् हैं। इसका निषेधतात्मक परिवर्तन है—कोई अनाशवान् पदार्थ मनुष्य नहीं है। यदि वाक्य का गुण स्थित रखना हो, तो उसका पुनः प्रतिवर्तन वा गुण भेद कर सकते हैं। जैसे—सब अनाशवान् पदार्थ अमनुष्य हैं।

इस क्रिया के प्रयोग से हम दोनों पदों का निषेधात्मक परिवर्त्तन वा गुणभेद कर सकते हैं। इस प्रयोग को हम सुभीते के लिये निषेधात्मक पद परिवर्तन (Contraposi-tive) कहेंगे। इसका विशेष उपयोग ए वाक्य के साथ होता है; क्योंकि इस प्रयोग द्वारा परिवर्त्तन में परिमाण की हानि नहीं होती; वाक्य की पूर्ण व्याप्ति बनी रहती है।

ए—सब धूमवान् पदार्थ अग्निवान् हैं।

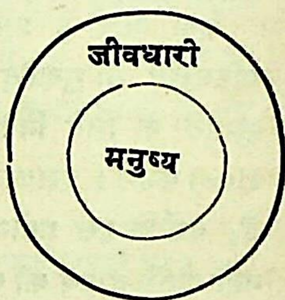
गुणभेद—ई–कोई धूमवान् पदार्थ अनग्निवान् नहीं है।

परिवर्त्तन–ई–कोई अनग्निवान् पदार्थ धूमवान् नहीं होता।

गुणभेद—ए— सब अनग्निवान् पदार्थ अधूमवान् हैं।

इस क्रिया में इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि पदों को निषेधात्मक बनाने के पश्चात् उनका परिवर्त्तन अवश्य हो जाना चाहिए। परिवर्त्तन न करने से ए वाक्य में साधारण परिवर्त्तन करने का दोष आ जायगा। ए वाक्य का परिवर्त्तन सदा संकोच से होता है। न्याय-ग्रन्थों से अनुमान करते हुए जब व्यतिरेक से उदाहरण देते हैं, तब यह बात ध्यान में रखते हैं कि जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है। जैसे—

रसोई घर में; और जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम नहीं है; जैसे–तालाब में। वे यह नहीं कहते–जहाँ धूम नहीं, वहाँ अग्नि नहीं। ऐसे कहने में व्यभिचार दोष आ जायगा; क्योंकि लोहे के गोले और कोयले में धूआँ नहीं होता, किन्तु उनमें अग्नि का अभाव नहीं होता। इस बात को नीचे के चित्र से भले प्रकार समझाया जा सकता है। सब मनुष्य जीवधारी हैं, इसका निषेधात्मक पद परिवर्त्तन होगा—सब अजीवधारी अमानुष हैं। इसके विपरीत यदि कोई निषेधात्मक पदों का परिवर्त्तन न करके केवल इतना ही कह दे कि सब अमानुष अजीवधारी हैं, तो वह अवश्य भूल करेगा। मनुष्य के वृत्त के बाहर बहुत से जीवधारी हैं। फिर सब अमानुष अजीवधारी किस प्रकार से हो सकते हैं? जो जीवधारी के वृत्त से बाहर हैं, वे मनुष्य के भी वृत्त के बाहर हैं। इसका सिद्धान्त यह है कि पूर्ण के निषेध से भाग का निषेध हो जाता है; किन्तु भाग के निषेध से पूर्ण का निषेध नहीं होता। विपर्य्यय (Inversion) नामक एक और विधि मानी गई है। यह ऊपर की क्रियाओं का विशेष योग है। व्याप्ति के नियम का ध्यान रखते हुए चाहे जितने प्रयोग किए जा सकते हैं।



अधिक परिचायकों द्वारा अलैङ्गिक अनुमान (Immediate Inference by added determinants) यद्यपि सर्वथा तो

ठीक नहीं होता, तथापि यह कभी कभी अच्छा काम दे जाता है। एक वाक्य के उद्देश्य पद और विधेय पद में एक ही विशेषण जोड़ देने से जो नया वाक्य बनता है, वह इसी प्रकार के अनुमान का फल है। उदाहरण–बंगाली लोग भारतवासी होते हैं। बंगाली कवि भारतवासी कवि होते हैं। सब धातुएँ तत्व हैं। श्वेत धातुएँ श्वेत तत्व होती हैं। इन उदाहरणों में यह अनुमान ठीक है; किन्तु जब विशेषण ऐसा होता है कि विधेय पद में जोड़ने से उद्देश्य पद और विधेय पद का संबंध बदल जाता है, तब यह अनुमान दूषित हो जाता है। चींटी जानवर है, किंतु यदि कोई यह अनुमान करे कि बड़ी चींटी बड़ा जानवर है, तो यह अनुमान हँसने योग्य होगा। यदि विशेषणों के चुनने में सावधानी रक्खी जाय, तो इस अनुमान से काम लिया जा सकता है। किन्तु इसके लिये कोई मोटा नियम नहीं बतलाया जा सकता, जिसके द्वारा बिना देखे भाले यह बतला दिया जाय कि अमुक विशेषण ठीक होगा और अमुक ठीक न होगा। इसी से मिलता जुलता एक और अनुमान है। उसके प्रयोग में भी बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। इस अनुमान को मिश्रित विचार द्वारा अनुमान (Immediate inference by complex conception) कहते हैं। इसमें उद्देश्य और विधेय पद को अधिक पेचीदा बनाकर अनुमान किया जाता है। जैसे—

सब ब्राह्मण भारतवासी हैं।

सब ब्राह्मणों के घर भारतवासियों के घर हैं।

घोड़ा जरायुज होता है।
घोड़े का सिर जरायुज का सिर है।
हबशी मनुष्य होते हैं।
सब से योग्य हबशी सब से योग्य मनुष्य है।

इस अन्तिम अनुमान में उद्देश्य पद और विधेय पद का जो संबंध पहले वाक्य में है, वह दूसरे वाक्य में नहीं; इसी से यह अनुमान ठीक नहीं।

अव्यवहित अनुमान के लिये कुछ लोगों का कहना है कि यह अनुमान की संज्ञा में नहीं आ सकते; क्योंकि अनुमान में कुछ ज्ञान-वृद्धि होती है—ज्ञात से अज्ञात की ओर जाते हैं। किन्तु इन अलैंगिक अनुमानों में किसी नई बात का ज्ञान नहीं होता। इन अनुमानों में शब्दों का स्थानान्तर हो जाता है, किन्तु उनसे ज्ञान में वृद्धि नहीं होती। ऐसे अनुमानों से ज्ञान में वृद्धि हो या न हो, किंतु इनकी उपयोगिता को मानना पड़ेगा। केवल इतना ही नहीं, अर्थ में भी थोड़ा बहुत परिवर्त्तन हो जाता है। परिवर्त्तन में विधेय पद उद्देश्य पद बना दिया जाता है। इसी के साथ विचार का लक्ष्य उद्देश्य पद से हटकर विधेय पद पर पहुँच जाता है। वाक्यों के गुण-भेद से थोड़ा बहुत अर्थ-भेद भी हो जाता है। कभी कभी किसी युक्ति को अनुमान का विशेष आकार देना पड़ता है। ऐसे समय में वाक्यों की बड़ी काट छाँट करनी पड़ती है। उस काट छाँट में इन रीतियों का अधिक प्रयोग करना पड़ता है।

ये सब अनुमान प्रायः आकार संबंधी हैं; और जितने अव्यक्त अर्थ रहते हैं, वे सब वाक्यों से व्यक्त नहीं हो सकते। वर्त्तमान तार्किक शिलर साहब(F.C.S.Schillor) ने अपने तर्क शास्त्र में लिखा है कि ऐसे आकार संबंधी अनुमानों में मनुष्य की रुचि की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। क्या वाक्यों से केवल इतने ही इने-गिने अनुमान निकल सकते हैं? जल की वर्षा हुई। क्या इस वाक्य से यही अनुमान हो सकता है कि कुछ होनेवाले पदार्थों से जल की वर्षा है? क्या इससे मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुकूल और अनुमान नहीं निकल सकते?

नवें अध्याय पर अभ्यासार्थ प्रश्न

(१) अलैंगिक अनुमान किसको कहते हैं? इस प्रकार के अनुमान की उपयोगिता की विवेचना कीजिए।

(२) अलैंगिक अनुमान में विरोध से क्या अभिप्राय होता है?

(३) असत्य वाक्यों में अपूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों से और सत्य वाक्यों में पूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों से अधिक फल निकल सकता है। इसको उदाहरणों द्वारा सिद्ध कीजिए।

(४) तार्किक विवाद में पूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों के कथन से क्या हानि है?

(५) नीचे लिखे वाक्यों का विरोध रीति से अनुमान निकालिए। इनको सत्य मानकर क्या अनुमान और झूठ मानकर क्या अनुमान निकलते हैं?

कुछ धनवान लोग लोभी होते हैं।

सब मनुष्य हँसने की शक्ति रखते हैं।

कोई मनुष्य सुखी नहीं है।

कुछ लोग विधवा विवाह के विरोधी नहीं हैं।

(६) परिवर्तन किसको कहते हैं ? 'ओ' का साधारण परिवर्तन क्यों नहीं हो सकता ?

नीचे लिखे वाक्यों में बतलाइए कि पहले वाक्य से दूसरे वाक्य पर जा सकते हैं या नहीं; और यदि जा सकते हैं तो किस विधि से।

सब धातुएँ उष्णता की वाहक होती हैं।

कुछ उष्णता की वाहक वस्तुएँ अधातु नहीं हैं।

देखने से विश्वास होता है।

जो बात देखी नहीं, उसपर विश्वास नहीं कर सकते हैं।

मनुष्य अमर नहीं।

सब मनुष्य नाशवान् हैं।

धर्म से हीन मनुष्य निन्दा के योग्य हैं।

सब प्रसंशा योग्य लोग धर्मात्मा हैं।

दसवाँ अध्याय

लैङ्गिक वा व्यवहित अनुमान

अलैङ्गिक अनुमानों का विवरण पिछले अनुमानों में हो चुका है। लैङ्गिक अनुमान उस अनुमान को कहते हैं जिसमें

लैंगिक अनुमान की व्याख्या

किसी लिङ्ग वा चिह्न वा मध्यवर्ती पद के द्वारा दो वाक्यों के आधार पर एक नए वाक्य का अनुमान किया जाय। इस संबंध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात यह है कि जिस अनुमान का इस अध्याय में विवरण दिया जायगा, उस अनुमान में किन्हीं दो वाक्यों से कोई तीसरा वाक्य अनुमित नहीं हो सकता; और न सब पद, जो मध्यवर्ती पद कहलाते हैं, वास्तविक मध्यवर्ती पद हो सकते हैं। उदाहरण लीजिए—सब बंगाली भारतवासी हैं और सब पंजाबी भारतवासी हैं; अतः सब पंजाबी बंगाली हैं। इस अनुमान में दो वाक्य और एक मध्यवर्ती पद है; किन्तु यह ठीक अनुमान नहीं। दूसरी बात यह है कि कभी कभी बहुत से ठीक अनुमानों को आकारिक तर्क शास्त्र में कठिनता से स्थान मिलता है। अरस्तूवाले न्याय में ऐसे अनुमानों को स्थान नहीं। अ ब से बड़ा है; और ब स से बड़ा है; अतः अ स से बड़ा है। घोड़ागाड़ी से रेल तेज़ जा सकती है और रेल से तेज़ वायुयान जा सकता है। अतः वायुयान घोड़ागाड़ी

से अधिक तेज़ जा सकता है। यह अनुमान झूठ नहीं। किन्तु आकार संबंधी अनुमान में बिना इनकी खींचतान किए इनको ठीक अनुमान का रूप देना कठिन है। हम को यहाँ पर यह विचारना है कि सदनुमान के क्या क्या रूप हो सकते हैं। आकारिक तर्क शास्त्र के अनुकूल कोई अनुमान तभी ठीक समझा जा सकता है, जब कि वह यथार्थ अनुमानों के किसी एक ढाँचे में आ सके। पहले अनुमान का साधारण आकार बतलाकर तब वे नियम बतलाए जायँगे, जिनके अनुकूल यथार्थ अनुमान के भिन्न भिन्न आकार निश्चित किए जा सकते हैं। लैङ्गिक अनुमान का साधारण आकार इस प्रकार होता है-

सब मनुष्य नाशवान् होते हैं।
कवि लोग मनुष्य हैं।
अतः कवि लोग नाशवान् हैं।

इस अनुमान के अन्तिम वाक्य में कवि लोगों के साथ नाशवान् पद का संबंध मनुष्य वा मनुष्यत्व गुण रूपी लिङ्ग द्वारा स्थापित किया गया है। अनुमान सामग्री रूप पहले दो वाक्यों को हम अनुमायक वाक्य वा पूर्व वाक्य (Premises) कहेंगे। पहले को साध्यानुमायक वाक्य (Major premises) अर्थात् बृहदानुमायक वाक्य कहेंगे। दूसरे को पक्षानुमायक वाक्य (Minor premises) अर्थात् लघ्वानुमायक वाक्य कहेंगे*।

* सुभीते के लिये साध्यानुमायक वाक्य को साध्य वाक्य कहेंगे और पक्षानुमायक वाक्य को पक्ष वाक्य कहेंगे।

संस्कृत न्याय में दोनों वाक्यों के योग से प्राप्त परामर्श नामक एक नए वाक्य को अनुमान का आधार मानते हैं। अंतिम वाक्य को निगमन कहते हैं। हर एक वाक्य में दो दो पद होते हैं और एक एक पद दो दो बार आता है। ऊपर के अनुमान में नाशवान् पद साध्य (Major term) कहलाता है। यह पद एक बार तो साध्यानुमायक वाक्य में आता है और दूसरी बार निगमन में आता है। साध्य हमेशा निगमन का विधेय पद होता है। साध्य उस गुण वा अवस्था को कहते हैं, जो किसी पद के विषय में सिद्ध की जाय। साध्य ही मुख्य है; इसी लिये साध्यवाले वाक्य को अँग्रेजी तार्किक Major premises अर्थात् बृहदनुमायक वाक्य कहते हैं। पक्ष पद (Minor term) एक बार पक्षानुमायक वाक्य में आता है, दूसरी बार निगमन में उद्देश्य पद होकर आता है। साध्य इसी के विषय में सिद्ध किया जाता है; इसी लिये यह निगमन का उद्देश्य पद बनता है। ऊपर के अनुमान में 'कवि' पद पक्ष पद है। कवि के विषय में नाशवान् गुण सिद्ध किया जाता है। नाशवान् साध्य है; यह किसके द्वारा? मनुष्यत्व गुण के द्वारा। मनुष्य होना ही मध्यवर्त्ती पद (Middle term) है। इसको नैयायिकों ने हेतु वा लिङ्ग कहा है। यह पद एक बार बृहदनुमायक वाक्य में साध्य के साथ आता है और दूसरी बार लघ्वानुमायक वाक्य में पक्ष के साथ आता है। यह

पद निगमन में नहीं आता। साध्य और पक्ष पद एक बार अनुमायक वाक्यों में आते हैं और दूसरी बार निगमन में आते हैं। साध्य, पक्ष और लिंग को पाश्चात्य नैयायिकों के मत से गुरु पद (Major term), मध्यवर्ती पद (Middle term) और लघुपद (Minor term) कहते हैं। साध्य को गुरु पद कहने का एक कारण बताया जा चुका है। दूसरा कारण यह है कि साध्य, लिंग और पक्ष की व्याप्ति गुरु, मध्य और लघु का संबंध रखती है। साध्य की व्याप्ति सब से अधिक है; इससे उसको गुरु पद कहा है। लिंग की व्याप्ति उससे कम है, इस कारण उसको मध्यवर्ती पद कहते हैं। मध्यवर्ती पद को मध्यवर्ती कहने का एक और भी कारण है। वह यह है कि यह पद साध्य और पक्ष के मध्यवर्ती होकर दोनों में संबंध स्थापित करता है। लघु पद की व्याप्ति सब से कम होती है। वैसे भी साध्य की अपेक्षा पक्ष गौण है। साध्य वह है जो बात सिद्ध की जाय। पक्ष वह है जिसके विषय में कोई बात सिद्ध की जाय। इसी लिये पक्ष निगमन का उद्देश्य होता है और साध्य विधेय होता है। उद्देश्य का अर्थ उसकी व्याप्ति (Denotation) के अनुकूल लगाना ठीक नहीं है। वाक्यों की व्याख्या करते हुए यह बतलाया जा चुका है कि विधेय पद का अर्थ उसकी गुणवाचकता के अनुकूल लगाया जाता है। आगे चल कर मालूम होगा कि अनुमान पर जो दोष लगाए जाते हैं, वे शब्दों की व्याप्ति-वाचकता के अनुकूल अर्थ लगाने के ही

कारण होते हैं। मध्यवर्ती पद को चिह्न या लिंग मानना ही ठीक है। व्याप्ति के सिद्धान्त के अनुकूल साध्य, पक्ष और लिंग की व्याप्ति नीचे के आकार के अनुकूल स्थित है—

सब मनुष्य नाशवान् हैं।
कवि लोग मनुष्य हैं।
अतः कवि लोग नाशवान् हैं।



सब अनुमान तार्किक रीति से नहीं लिखे जाते। हमको उनकी जाँच के लिये तार्किक रूप देना पड़ता है। कभी कभी निगमन पहले लिख दिया जाता है; और कभी लघ्वनुमापक वाक्य बृहदनुमापक वाक्य के स्थान में रख दिया जाता है। जो पद दोनों वाक्यों में हो और निगमन में न हो, उसे मध्य पद समझ लेना चाहिए। जिस वाक्य में मध्य पद न हो, वह निगमन होता है ... निगमन का उद्देश्य, पक्ष और विधेय, साध्य होता है। इसी प्रकार पदों से वाक्यों का क्रम निश्चित करना चाहिए।

लैंगिक अनुमान के नियम

(१) प्रत्येक अनुमान में तीन ही पद होने चाहिएँ। अनुमान के पद न तीन से कम और न तीन से अधिक होने चाहिएँ। यदि तीन से कम हों, तो वह लैंगिक वा व्यवहित वा माध्यमिक अनुमान न रहेगा। जब तक तीसरा पद न हो, तब तक किसके

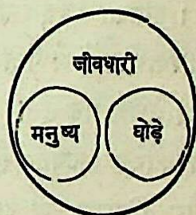
द्वारा संबंध स्थापित किया जायगा? यदि तीन से अधिक पद हों, तो भी ठीक न होगा; क्योंकि संबंध स्थापित करनेवाला एक ही पद होना चाहिए; और जिन पदों में संबंध स्थापित किया जाय, वे भी अनुमापक वाक्यों और निगमन में एक ही रहें। जिन शब्दों में संबंध स्थापित किया जाता है, यदि वही शब्द बदल जायँ, तो वह संबंध स्थिर नहीं रह सकता। यदि एक बार एक वस्तु को फुटों से नापें और दूसरी वस्तु को गजों से नापें; और पहली चीज चार फुट हो और दूसरी चार गज हो, तो केवल संख्या की एकता के कारण दोनों चीजें एक नहीं हो सकतीं। यदि दो वस्तुएँ नाप में बराबर हों, किंतु थोड़ी देर पश्चात् उन वस्तुओं के स्थान में और कोई दो वस्तुएँ रख दी जायँ या उनमें से कोई एक वस्तु बदल जाय, तो वे दोनों वस्तुएँ बराबर नहीं कही जा सकतीं। यही हाल पदों का भी है। पदों की संख्या तीन ही होनी चाहिए; न उससे कम न उससे अधिक और पदों का अर्थ एक ही रहना चाहिए। अर्थ बदलने से शब्द ही बदल जाता है। रूप में एक ही पद रहता हुआ भी वास्तव में दो पद हो जाते हैं।

(२) अनुमान में तीन ही वाक्य होने चाहिएँ; न तीन से कम न तीन से ज्यादा। जब तीन पद होंगे, तब तीन ही वाक्य होंगे; क्योंकि तीन वाक्यों में एक पद दो दो बार आ जायगा।

(३) दोनों पूर्व वाक्यों में से किसी एक वाक्य में मध्यवर्ती पद वा लिंग अवश्य व्याप्त होना चाहिए। वह चाहे दोनों

वाक्यों में हो, किन्तु ऐसा न हो कि दोनों पूर्व वाक्यों में से एक में भी व्याप्त (Distributed) न हो। यह नियम बड़े महत्त्व का है। इस नियम के रखने का कारण यह है कि मध्यवर्ती पद ही पक्ष और साध्य का संबंध करता है। जब तक कि एक बार उसका अर्थ पूर्ण व्याप्ति में न लगाया जाय, तब तक यह निश्चय नहीं हो सकता कि उसका कौन सा अंश साध्य से संबंध रखता है और कौन सा पक्ष से। सम्भव है, दोनों अंश एक ही हों; और यह भी संभव है कि भिन्न भिन्न हों; इसलिये संदेह रहता है। लेकिन एक बार जब उसके अन्तर्गत सब व्यक्तियों में प्रयुक्त होनेवाले नियम का ज्ञान हो गया, तब वह थोड़े व्यक्तियों पर भी प्रयुक्त हो सकता है। उदाहरण लीजिए—

(१) सब मनुष्य जीवधारी हैं।
सब घोड़े जीवधारी हैं। अतः वह मनुष्य है।



(२) सब द्विज हिन्दू हैं।
सब ब्राह्मण हिन्दू हैं।
अतः सब ब्राह्मण द्विज हैं।

पहले और दूसरे दोनों ही अनुमानों में मध्य पद भावात्मक वाक्यों का विधेय होने के कारण अव्याप्त है। लेकिन पहला निगमन ठीक नहीं है और दूसरा ठीक है। इसका कारण यह है कि



जीवधारियों का जो भाग मनुष्य से घिरा हुआ है, वह घोड़ेवाले भाग से पृथक् है; इसलिये इन दोनों पदों की एकता नहीं हो सकती। जब एक जगह ठीक अनुमान निकला और दूसरी जगह गलत, तो ऐसी अवस्था में अनिश्चय के कारण अव्याप्त मध्य पदों से अनुमान निकालना ठीक नहीं है।

(४) कोई भी पद जो पूर्व वाक्यों में अव्याप्त है, निगमन में व्याप्त नहीं हो सकता। जब कि हम अनुमापक वाक्यों में किसी पद पर पूर्ण व्याप्ति में विचार नहीं करते, तब फिर निगमन में हम उसकी पूर्ण व्याप्ति के विषय में कुछ न कह सकेंगे। कुनैन कड़वी है; कुनैन सफेद है; अतः सब सफेद पदार्थ कड़वे होते हैं। इस अनुमान में निगमन की संज्ञा ए है। इसका उद्देश्य पद व्याप्त है। निगमन का उद्देश्य पद अनुमापक वाक्यों में पक्ष का स्थान लेता है। पक्ष लघ्वनुमायक वाक्य का विधेय पद है। यह पद भावात्मक वाक्य का विधेय होने के कारण अव्याप्त है। अनुमापक वाक्य में पक्ष का अव्याप्त और निगमन में व्याप्त होना अनुचित प्रक्रिया है। सफेद पदार्थों की व्याप्ति का विस्तार कुनैन से बढ़ा हुआ है। इसलिये जो गुण कुनैन के विषय में प्रयुक्त है, वह सभी सफेद पदार्थों के विषय में नहीं है।

(५) यदि दोनों पूर्व वाक्य या अनुमापक वाक्य निषेधात्मक हों, तो निगमन कुछ न निकलेगा।

यदि दोनों वाक्य निषेधात्मक हों, तो उनके पदों में कोई

संबंध स्थापित नहीं हो सकता। उदाहरण लीजिए—

कोई मनुष्य अमर नहीं।

कोई मनुष्य घोड़ा नहीं।

इससे कोई निगमन नहीं निकल सकता। मनुष्यों का अमरों से कोई संबंध नहीं और न मनुष्यों का घोड़ों से; तो घोड़ों और अमरों का किस प्रकार से कोई संबंध स्थापित हो सकता है?

(६) यदि एक अनुमापक वाक्य निषेधात्मक हो, तो निगमन भी निषेधात्मक होगा; और जहाँ निगमन निषेधात्मक होगा, वहाँ एक पूर्व वाक्य अवश्य निषेधात्मक होगा। जब एक स्थान में संबंध का अभाव दिखलाया गया है, तब उन दोनों पदों में से किसी एक से संबंध रखनेवाला पद दूसरे पद से संबंध नहीं रख सकता।

(७) दो अपूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों से कुछ नहीं सिद्ध होता। यह नियम ऊपर के नियमों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। अपूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों के नीचे लिखे अनुसार योग हो सकते हैं—

ऐ	ओ	ऐ	ओ
ऐ	ओ	ओ	ऐ

ऐ ऐ में कोई पद व्याप्त नहीं; दोनों अपूर्ण व्याप्तिवाले अभावात्मक पद हैं। पूर्व वाक्यों में कम से कम एक वाक्य विभक्त होना आवश्यक है; किन्तु इस योग में एक भी पद विभक्त नहीं है।

ओ | यह दोनों ही वाक्य निषेधात्मक हैं। पाँचवें नियम
आ | के विरोध के कारण इससे कोई निगमन नहीं निकल
सकता।

इन दोनों योगों में एक पद व्याप्त होगा। वह पद मध्य पद
ए | ओ | होगा। इनमें से एक वाक्य निषेधात्मक है; इसलिये
ओ | ए | छठे नियम के अनुसार निगमन भी निषेधात्मक
होगा। उसके निषेधात्मक होने से उसका विधेय पद जो कि साध्य है, व्याप्त होगा; किन्तु पूर्व वाक्यों में एक ही पद व्याप्त है और वह मध्य पद होना चाहिए। यदि साध्य पद को व्याप्त करते हैं, तो मध्य पद अव्याप्त रहता है; और यदि मध्य पद को अव्याप्ति दोष से बचाना चाहते हैं, तो साध्य पद की अनुचित प्रक्रिया का दोष आता है। अतः दोनों योगों में से एक भी योग फलदायक नहीं हो सकता।

(८) यदि एक पूर्व वाक्य अपूर्ण व्याप्तिवाला है, तो निगमन अवश्य अपूर्ण व्याप्ति का होगा। और यदि निगमन अपूर्ण व्याप्ति का हो, तो पूर्व वाक्यों में एक अवश्य अपूर्ण व्याप्तिवाला होगा। यह नियम भी ऊपर के नियमों के आधार पर सिद्ध हो सकता है।

दो पूर्व वाक्यों में यदि एक अपूर्ण व्याप्तिवाला हो, तो अधिक से अधिक दो पद व्याप्त हो सकते हैं; क्योंकि तीन पद व्याप्त होने में दोनों वाक्य निषेधात्मक हो जायँगे। यदि एक

पद व्याप्त हो, तो वह पद मध्य पद होगा; और पक्ष तथा साध्य दोनों अव्याप्त रहेंगे। पक्ष के अव्याप्त रहने में निगमन अवश्य अपूर्ण व्याप्ति का होगा; क्योंकि निगमन का उद्देश्य पद पक्ष है; और पक्ष ऊपर के पूर्व वाक्य में अव्याप्त होने के कारण निगमन में भी अव्याप्त रहेगा। यदि दो पद व्याप्त होंगे, तो उस अवस्था में एक पूर्व वाक्य निषेधात्मक होगा; और इस कारण निगमन भी निषेधात्मक होगा। निगमन के निषेधात्मक होने से साध्य, जो उसका विधेय होता है, व्याप्त होगा; और जब वह निगमन में व्याप्त होगा, तब पूर्व वाक्य में भी अवश्य व्याप्त होगा। पूर्व वाक्यों में दो ही पद व्याप्त माने हैं। उनमें से एक पद मध्य पद होगा और दूसरा पद साध्य होगा। अब पक्ष अव्याप्त रहा। पक्ष जब पूर्व वाक्य में अव्याप्त है, तब निगमन में व्याप्त नहीं हो सकता। पक्ष निगमन का उद्देश्य होता है। जब निगमन का उद्द्देश्य अव्याप्त है, तब वह पूर्ण व्याप्तिवाला नहीं हो सकता।

आकार और योग

Figures and Mood.

एक अनुमान में मध्यवर्ती पद दो बार आता है। इस मध्यवर्त्ती पद की पूर्व वाक्यों में स्थिति के आधार पर युरोपीय तार्किकों ने अनुमान के चार आकार माने हैं।।

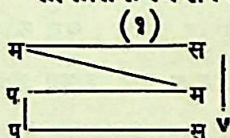
आकारों की संख्या और व्याख्या

मध्यवर्त्ती पद की स्थिति पर अनुमान का जो रूप होता है, उसको आकार कहते हैं। इस आकार के नीचे लिखे भेद हैं—

पहला आकार

इस आकार में मध्य पद बृहदनुमापक वाक्य का लक्ष्य होता है और बृहदनुमापक वाक्यों में विधेय पद का स्थान लेता है। इसके हिसाब से साध्य और उद्देश्य पद की स्थिति जो निगमन में है, (अर्थात् साध्य, विधेय और पक्ष उद्देश्य होता है) वही स्थिति इनकी अपने अपने पूर्व वाक्यों में है। यह आकार सब से शुद्ध माना गया है।

सांकेतिक निरूपण
(१)

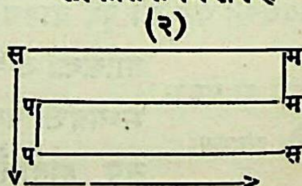


सब धातुएँ तत्व हैं।
सब चाँदी के जेवर धातु हैं।
अतः सब चाँदी के जेवर तत्व हैं।

दूसरा आकार

इस आकार में मध्य पद दोनों पूर्व वाक्यों का विधेय होता है। साध्य और पक्ष अपने पूर्व वाक्यों के उद्देश्य होते हैं। जैसे—

सांकेतिक निरूपण
(२)



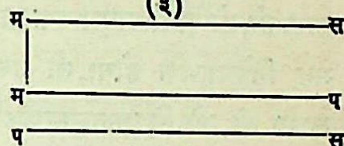
सब पक्षी अंडज होते हैं।
कोई चमगादड़ अंडज नहीं होता।
कोई चमगादड़ पक्षी नहीं होता।

तीसरा आकार

इस आकार में मध्य पद दोनों वाक्यों का उद्देश्य होता है। साध्य और पक्ष दोनों वाक्यों में विधेय होते हैं। यह दूसरे का विपरीत है। जैसे—

सब तोते पक्षी हैं।
सब तोते अंडज हैं।
अतः कुछ अंडज पक्षी हैं।

सांकेतिक निरूपण
(३)

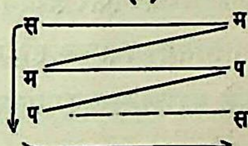


चौथा आकार

इस आकार में मध्य पद बृहदनुमापक वाक्य का विधेय और लघ्वनुमापक वाक्य का उद्देश्य होता है। साध्य लक्ष्य बन जाता है और लक्ष्य विधेय बन जाता है। यह पहले आकार के विपरीत है। जैसे—

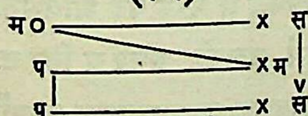
सब तार्किक मनुष्य हैं।
कोई मनुष्य पशु नहीं है।
अतः कोई पशु तार्किक नहीं है।

सांकेतिक निरूपण
(४)

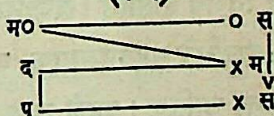


चारों आकारों के विशेष नियम

(१-१)



(१-२)



पहले आकार के नियम इस प्रकार हैं—

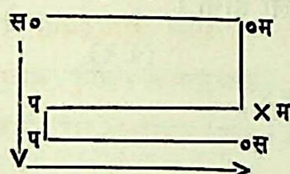
(१) बृहदनुमापक वाक्य पूर्ण व्याप्तिवाला होना चाहिए।

(२) लघ्वनुमापक वाक्य भावात्मक होना चाहिए।

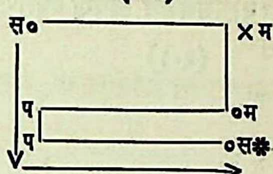
दूसरे नियम की सिद्धि पहले कर लेना आवश्यक है। निगमन या तो भावात्मक होगा या निषेधात्मक। यदि भावात्मक हो, तो दोनों अनुमापक वाक्य भावात्मक होंगे। यदि निगमन निषेधात्मक होगा, तो उसका विधेय पद व्याप्त होगा। साध्य भी, जो कि बृहदनुमापक वाक्य का विधेय है, व्याप्त होना चाहिए। निगमन का विधेय साध्य है; और कोई पद, जो निगमन में व्याप्त है, पूर्व वाक्यों में अव्याप्त नहीं रह सकता। अतः साध्य, जो निगमन का विधेय है, व्याप्त होने के कारण, बृहदनुमापक वाक्य निषेधात्मक होगा। एक अनुमान में दो निषेधात्मक वाक्य नहीं हो सकते। यदि निगमन निषेधात्मक हो, तो बृहदनुमापक वाक्य का निषेधात्मक होना आवश्यक है। और फिर लघ्वनुमापक वाक्य भावात्मक होगा। और यदि निगमन भावात्मक हो, तो दोनों ही पूर्व वाक्यों के भावात्मक होने के कारण लघ्वनुमापक वाक्य भी अवश्य भावात्मक होगा। जब लघ्वनुमापक वाक्य भावात्मक होगा, तब उसका विधेय अविभक्त होगा। पहले आकार में मध्य पद लघ्वनुमापक वाक्य का विधेय होता है। लघ्वनुमापक वाक्य में मध्य पद अविभक्त है; इसलिये बृहदनुमापक वाक्य में उसको अवश्य विभक्त रहना चाहिए। पहले आकार में मध्य पद बृहदनुमापक वाक्यों

का उद्देश्य होता है। उद्देश्य के विभक्त होने के कारण बृहद्-नुमापक वाक्य पूर्ण व्याप्तिवाला होगा। यथा—

(२-१)



(२-२)



दूसरे आकार के मुख्य नियम

(१) एक अनुमापक वाक्य निषेधात्मक होगा; और फलतः निगमन भी निषेधात्मक होगा।

(२) बृहदनुमापक वाक्य पूर्ण व्याप्तिवाला होगा।

इस आकार में मध्य पद दोनों अनुमापक वाक्यों का विधेय पद होता है। मध्य पद का एक बार व्याप्त होना आवश्यक है; इसलिये एक अनुमापक वाक्य का निषेधात्मक होना भी आवश्यक है; और उसी के साथ निगमन को भी निषेधात्मक होना चाहिए। जब निगमन निषेधात्मक होगा, तब उसका विधेय भी, जो कि साध्य है, अवश्य व्याप्त होगा। साध्य बृहदनुमापक वाक्य का उद्देश्य है; इससे बृहदनुमापक वाक्य पूर्ण व्याप्तिवाला होगा।

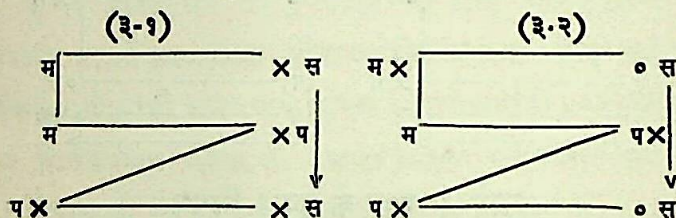
---

* छोटे वृत्त को व्याप्त का चिह्न समझना चाहिए और × गुणन के चिह्न को व्याप्त न होने का सूचक समझना चाहिए।

तीसरे आकार के विशेष नियम

(१) लघ्वनुमापक वाक्य भावात्मक होगा।

(२) निगमन अपूर्ण व्याप्तिवाला होगा।



(१) निगमन या तो भावात्मक होगा या निषेधात्मक होगा। यदि भावात्मक होगा, तो दोनों ही अनुमापक वाक्य भावात्मक होंगे; और यदि निगमन निषेधात्मक होगा, तो उसका विधेय पद भी, जो कि साध्य है, व्याप्त होगा। साध्य बृहदनुमापक वाक्य में विधेय पद है। साध्य निगमन में व्याप्त है; अतः अनुमापक वाक्य में भी व्याप्त होना चाहिए। साध्य अर्थात् बृहदनुमापक वाक्य का विधेय व्याप्त है; इसलिये बृहदनुमापक वाक्य निषेधात्मक हुआ। जब बृहदनुमापक वाक्य निषेधात्मक है, तब लघ्वनुमापक वाक्य अवश्य भावात्मक होगा; क्योंकि दो वाक्य निषेधात्मक नहीं हो सकते। जब लघ्वनुमापक वाक्य भावात्मक है, तब उसका विधेय, जो कि पक्ष है, अविभक्त होगा। यदि पक्ष लघ्वनुमापक वाक्य में अव्याप्त है, तो निगमन में भी अव्याप्त होगा; और इसलिये निगमन अपूर्ण व्याप्तिवाला होगा।

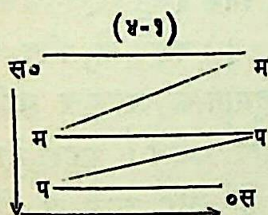
चौथे आकार के नियम

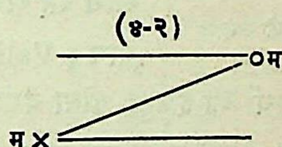
(१) यदि निगमन निषेधात्मक है, तो बृहदनुमापक वाक्य पूर्ण व्याप्तिवाला होगा।

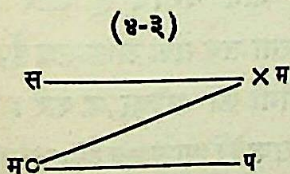
(२) यदि लघ्वनुमापक वाक्य अपूर्ण व्याप्तिवाला है, तो बृहदनुमापक वाक्य निषेधात्मक है।

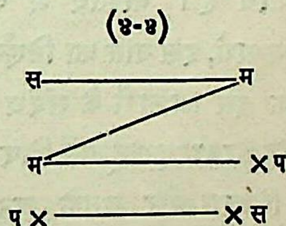
(३) यदि बृहदनुमापक वाक्य भावात्मक है, तो लघ्वनुमापक वाक्य पूर्ण व्याप्तिवाला होगा।

(४) यदि लघ्वनुमापक वाक्य भावात्मक है, तो निगमन अपूर्ण व्याप्तिवाला होगा।









ऊपर के नियम यहाँ पर नहीं सिद्ध किए जायँगे। जिन नियमों की सिद्धि दी जा चुकी है, उन्हीं की भाँति विद्यार्थी

लोग इनको भी सिद्ध करें। इससे पिछले नियम भले प्रकार समझ में आ जायँगे। ऊपर के संकेत भी सिद्धि में बहुत सहायता देंगे।

योग

Mood

वाक्य चार प्रकार के होते हैं और एक अनुमान में तीन वाक्य होते हैं। एक वाक्य का चाहे किन्हीं दो वाक्यों से योग सम्भव है। जो वाक्य यथार्थ अनुमान में एक साथ रह सकते हैं, उनके इकट्ठे रहने को यथार्थ योग (Valid mood) कहते हैं; और जिन वाक्यों का इकट्ठा होना यथार्थ अनुमान के अनुकूल नहीं है, उस इकट्ठे होने को अयथार्थ योग कहेंगे। पहले देखना चाहिए कि कितने योग सम्भव हैं और उनमें से कितने यथार्थ हैं। वास्तव में कौन योग यथार्थ है और कौन अयथार्थ, इस बात का निर्णय करना तब तक असम्भव है, जब तक हम आकारों के संबंध में योगों की परीक्षा न करें। योग और आकार पृथक् नहीं किए जा सकते। आजकल लोग आकारों के विभाग और उनके अनुसार योगों का समावेश करना अप्राकृतिक समझते हैं; किन्तु ये सब बातें परंपरा के कारण पुष्ट हो गई हैं और इन्हें तर्क शास्त्र की पुस्तकों से हटाना

संभावित योगों की संख्या

कठिन है। इस पद्धति में थोड़ा सुभीता भी है। पहले तो उन योगों को निकाल देते हैं, जो साधारणदृष्टि से ही अयथार्थ हैं। जैसे दो निषेधात्मक वाक्यों का; एक अपूर्ण व्याप्तिवाले पूर्व वाक्य से पूर्ण व्याप्तिवाले निगमन का निकालना। इस काट छाँट से जो बच रहे, उसकी हर एक आकार के साथ परीक्षा करना होगा कि कौन से आकार में कौन कौन से योग रह सकेंगे। इस प्रकार परीक्षा में सुलभता हो जायगी। एक वाक्य के साथ कोई दो और वाक्य आ सकते हैं; ए के साथ नीचे लिखे सोलह योग हो सकते हैं।

१	ए	ए	ए
२	ए	ए	ई×
३	ए	ए	ऐ
४	ए	ए	ओ×

५	ए	ई	ए×
६	ए	ई	ई
७	ए	ई	ऐ×
८	ए	ई	ओ

९	ए	ऐ	ए×
१०	ए	ऐ	ई×
११	ए	ऐ	ऐ
१२	ए	ऐ	ओ+

१३	ए	ओ	ए×
१४	ए	ओ	ई×
१५	ए	ओ	ऐ×
१६	ए	ओ	ओ

इसी प्रकार ई के साथ सोलह योग पैदा होंगे।

बीच के कालम में अ के स्थान से ई से चार।

बीच के कालम में अ के स्थान में ए से चार।

बीच के कालम में अ के स्थान में ओ से चार

ई	ए	ए
ई	ए	ई
ई	ए	ऐ
ई	ए	ओ

इसी प्रकार ए और ओ के साथ सोलह सोलह योग होंगे, कुल चौंसठ योग हो जायँगे। पहले कालम में ए को ई के स्थान में रखकर फिर बीच के कालम में, क्रमशः ए, ई, ऐ और चार चार बार रखते जाओ और फिर इसी तरह पहले कालम में ए के स्थान में ओ और बीच के कालम में क्रमशः ए, ई, ऐ, ओ चार चार बार रखते जाओ। ए के साथ जो योग दिए गए हैं, उनमें से प्रत्येक चक्र के पहले कालम में ए के स्थान में क्रमशः ई, ऐ, ओ रखने से भी चौंसठ योग बन जायँगे।

विद्यार्थियों को चाहिए कि कुल चौंसठ योगों को लिखकर उनमें देखें कि कितने अनुमान के नियम के अनुकूल पड़ते हैं और कितने नहीं। यह भी देखें कि कौन सा योग किस किस नियम के विरुद्ध है। उनकी परीक्षा का फल इस प्रकार

होगा । *

संभावित योगों में शुद्ध योग

ए ए ए A A A	ई ए ई E A E	ऐ ए ऐ I A I	ओ ए ओ O A O
ए ए ऐ A A I	ई ए ओ E A O	(ऐ ई ओ) (I E O)	
ए ई ई A E E	ई ऐ ओ E I O		
ए ई ओ A E O			
ए ऐ ऐ A I I			
ए ओ ओ A O O			

अब इनमें से यह देखना है कि कौन किस आकार में ठहरता है ।

---

* उदाहरणतः ए के साथ के योगों में से नम्बर २, ४, ५, ७, १०, १२, १३, १५ उस नियम का विरोध करते हैं, जो यह बतलाता है कि यदि निगमन निषेधात्मक है, तो कोई एक पूर्व वाक्य अवश्य निषेधात्मक होना चाहिए; और अगर कोई पूर्व वाक्य निषेधात्मक हो, तो निगमन निषेधात्मक होगा ।

नम्बर ९, १०, १४, १५ उस नियम का विरोध करते हैं, जो यह बतलाता है कि यदि एक पूर्व वाक्य अपूर्ण व्याप्ति का हो, तो निगमन भी अपूर्ण व्याप्ति का होगा ।

विद्यार्थी लोग स्वयं इन योगों की, आकारों के सम्बन्ध में विशेष नियमों का सहारा न लेकर, परीक्षा करें तो अच्छा है।

फल

आकारों के शुद्ध योग

पहला आकार	दूसरा आकार	तीसरा आकार	चौथा आकार
ए ए ए	ई ए ई	ए ए ऐ	ए ए ऐ
ई ए ई	ए ई ई	ऐ ए ऐ	ए ई ई
ए ऐ ऐ	ऐ ई ओ	ए ऐ ऐ	ऐ ए ऐ
ई ऐ ओ	ए ओ ओ	ई ई ओ	ई ए ओ
(ए ए ऐ)	(ई ए ओ)	ओ ए ओ	ई ऐ ओ
(ई ए ओ)	(ए ई ओ)		(ए ई ओ)

यह फल योगों के रखे बिना भी विशेष नियमों की सहायता से प्राप्त हो सकता था। विद्यार्थी गण इस रीति से भी फल निकालने का प्रयत्न करें।

शुद्ध योगों की धारिणी

इस फल को याद रखने के लिये युरोप के माध्यमिक-कालीन लेखकों ने नीचे की धारिणी (Mremonies) दी है—

Barbara, Celarent, Darii, Ferioque, Prioris, Ceasare, Camestres, Festino, Baroco, Secundae, Tertia, Darapti, Disamis, Datisi, Felapton,

Bocardo, Ferison, Habet, Quarta, Insuper, Addit, Bramantip, Camenes, Dimaris, Fesapo, Fresison.

A AA EAE AII IEO
वार बारा केलारन्ट दारीई फेरीओ (की प्रियोरिस)
EAE AE E EIO AOO
के सा रे कामे स्त्रेस फेस्तीनो वारोको (सेकान्दे).
AAI IAI. AII EAO OAO
(टर्शीआ) दाराप्ती दीसामोस दातीसो फेलाप्तोन बोकार्डो
EIO
फेरीसोन (हावेत कारता इनसुपर आदित)
AAI AEE IAI EAO EIO
ब्रामान्तीप कामानोस दिमारीस फेसापो फ्रीसीसोन ।

ए ए ए ई ए ई ए ऐ ऐ ई ऐ ओ
प्रथमे, तेरतेरे थीलेरीन देरैके धीरैओ
ई ए ई ए ई ई ई ऐ ओ ए ओ ओ .
द्वितीये, थीसेरी, थेमीस्त्रीस, धीसतैनो, नेरोको
ए ए ऐ ऐ ए ऐ ए ऐ ऐ ई ए ओ ओएओ
तृतीये, देरेप्तै, दैसेमैस, देतैसे, धीलेप्तोन, नोकेरो
ए ए ऐ ए ई ई ऐ ए ऐ ई ए ओ ई ए ओ
चतुर्थे, त्रेमेन्तैपं, थेमीनीस, दैमेरैस, धीसेओ, भ्रीसैसोन

इन शब्दों का वैसे तो कुछ अर्थ नहीं, किन्तु यह विद्यार्थियों को लैङ्गिक अनुमान सम्बन्धी बहुत सी बातों के स्मरण

रखने में सहायता देते हैं। इन शब्दों में जो स्वर हैं, वे योग के वाक्यों के सूचक हैं। तेरतेरे से ए ए ए योग समझना चाहिए; देरेप्तै से ए ए ऐ अर्थ समझना चाहिए। पहली पंक्ति में प्रथम आकार के दूसरी पंक्ति में दूसरे आकार के और तीसरी पंक्ति में तीसरे आकार के योग दिए हुए हैं। चौथी और पाँचवीं पंक्तियों में चौथे आकार के योग हैं। इन शब्दों की पूरी पूरी व्याख्या परिवर्तन के सम्बन्ध में की जायगी।

आकारों की विशेष उपयोगिता

पहला आकार सब से अधिक उपयोगी माना गया है। विचार का जो क्रम है, वह इसमें पूर्णतया स्थापित रहता है। डिक्टम डी ओम्नाई एट नुल्लो (Dictum deomniet nullo) अर्थात् (जो बात—चाहे वह भावात्मक हो चाहे निषेधात्मक हो—पूर्ण वर्ग के लिये कही जा सकती है, वह उसके अन्तर्गत व्यक्तियों वा वर्गों के लिये भी कही जा सकती है) का सिद्धान्त पूर्णतया इसी आकार में ठीक उतरता है। पहले आकार के विशेष नियम भी यह बात प्रमाणित करते हैं। पहले आकार का बृहदनुमापक वाक्य पूर्ण व्याप्तिवाला होता है; अर्थात् वह पूर्ण वर्ग के विषय में कोई भावात्मक अथवा अभावात्मक बात कहता है। पहले आकार में लघ्वानुमापक वाक्य भावात्मक होता है। इसका अर्थ यह है कि उसमें यह बतलाया जाता है कि कोई व्यक्ति-विशेष या वर्ग-विशेष उस पूर्ण वर्ग के अन्तर्गत है।

वैज्ञानिक या दार्शनिक विषयों में इस आकार की विशेष उपयोगिता है। वैज्ञानिक और दार्शनिक सिद्धान्त पूर्ण व्याप्तिवाले ही होते हैं। जब तक सिद्धान्त पूर्ण व्याप्तिवाले न हों, तब तक सिद्धान्त ही नहीं कहे जा सकते। पहले आकार में ही पूर्ण व्याप्तिवाला भावात्मक वाक्य सिद्ध होता है। साधारण जीवन में भी इस आकार से प्रायः काम पड़ता है। जब हम सन्देह में होते हैं कि अमुक काम करें या न करें, या यह वस्तु गुणकारी होगी अथवा अवगुणकारी, तब हम ऐसे व्यापक नियम की खोज करते हैं, जिसके अन्तर्गत विचारणीय बात आ जाय; और जो बात नियम में कही गई हो, वही बात उस वस्तु के विषय में समझकर अपनी शंका का निवारण कर लेते हैं। विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, सम्पत्ति-शास्त्र, चिकित्सा आदि सभी विषयों में पूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों से काम पड़ता है। न्यायालयों में भी दंड देते समय तेरतेरे योग का परोक्ष ही रीति से उपयोग होता है। जब हम दंड देते हैं, तब हम अभियुक्त का कार्य्य किसी जुर्म की परिभाषा के अन्तर्गत करना चाहते हैं; और जो सजा उस जुर्म की होती है, वही अभियुक्त को दी जाती है। औषध देते समय भी यही किया जाता है। रोगी की चिकित्सा से पूर्व उसका निदान किया जाता है। निदान में जो रोग निश्चित होता है, उसी के अनुकूल औषध दी जाती है। हमको यदि किसी वस्तु के रासायनिक गुणों के विषय में सन्देह हो और यदि हमको यह ज्ञात हो जाय कि अमुक वस्तु अमुक वर्ग में आती है, तो

उस वर्ग के गुण उसके भी साधारण गुण होंगे। इन सब बातों के कारण पहला आकार सब से अधिक उपयोगी है। और आकार भी अपनी अपनी उपयोगिता रखते हैं। दूसरे आकार में निषेधात्मक वाक्य बड़े सुभीते से सिद्ध होते हैं। पहले आकार में तो यह आवश्यक रहता है कि निषेधात्मक वाक्य वृहदनुमापक ही हो; किन्तु दूसरे आकार में इसकी आवश्यकता नहीं। यह आकार भेद स्थापित करने में बड़ा उपयोगी है। तीसरे आकार में निगमन अपूर्ण व्याप्तिवाला होता है; इसलिये उससे उदाहरण और अपवाद सिद्ध करने का अच्छा सुभीता पड़ता है। इन अपूर्ण व्याप्तिवाले वाक्यों द्वारा व्यापक वाक्यों की अयथार्थता सहज में सिद्ध कर दी जाती है। इस आकार द्वारा यह भी सिद्ध हो जाता है कि कौन कौन से गुणों का सहयोग सम्भव है। उदाहरणार्थ—

जनक बड़े भारी राजा थे।
जनक बड़े भारी ब्रह्मज्ञानी थे।
अतः कुछ ब्रह्मज्ञानी राजा हैं।

इससे यह सिद्ध हो गया कि ब्रह्मज्ञान और राजकार्य्य दोनों एक साथ चल सकते हैं।

चौथे आकार की कोई विशेष उपयोगिता नहीं। किन्तु कभी कभी जब हमको किसी कारण से अनुमापक वाक्यों का क्रम बदलना ही पड़े, तो चौथे आकार से काम लिया जा सकता है।

परिवर्तन

पहले आकार की शुद्धता पर पिछले अध्याय में विवेचना हो चुकी है। वे बातें संक्षेप में यहाँ दोहराई जाती हैं।

आकार का महत्व

(१) यही आकार अनुमान के मूल सूत्र (डिक्टम डि ओम्नाई एट नुल्लो) के अनुकूल है।

(२) इस आकार में चारों आकारों के निगमन सिद्ध हो जाते हैं और पूर्ण व्याप्तिवाला भावात्मक वाक्य केवल इसी आकार में सिद्ध होता है।

(३) साध्य मध्य पद और पक्ष की व्याप्ति उनके अंग्रेजी नामों Major (बृहद्) Middle (मध्य) Minor (लघु) के अनुकूल है। अर्थात् साध्य की सब से अधिक व्याप्ति चाहिए; मध्य पद की उससे कम; और पक्ष की उससे भी कम। ऐसा ही होने में अनुमान का मूल सूत्र इसमें प्रयुक्त हो सकता है।

(४) साध्य, जो निगमन का विधेय होता है, पूर्व वाक्य में भी विधेय होता है। पक्ष, जो निगमन का उद्देश्य होता है, पूर्व वाक्य में भी उद्देश्य होता है।

(५) इसमें पूर्व वाक्यों की सामग्री का पूरा पूरा लाभ उठाया जाता है; अर्थात् मध्य पद एक ही बार व्याप्त होता है। कोई पद, जो पूर्व वाक्यों में व्याप्त है, निगमन में अव्याप्त नहीं है। इस आकार में कोई पुष्ट योग नहीं है। पुष्ट योग (Strengthened

mood) उसे कहते हैं जहाँ कि अनुमापक वाक्यों में निगमन की आवश्यकता से अधिक सामग्री हो।

यह ठीक है कि पहला आकार और सब आकारों की अपेक्षा शुद्ध और विचार के नियमों के अनुकूल है किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि और सब आकारों के अनुमान विश्वास योग्य नहीं हैं। प्रायः ऐसा होता है कि हमको सामग्री इस प्रकार की मिलती है कि वह दूसरे, तीसरे और चौथे ही आकारों में सुभीते से रक्खी जा सके। ऐसी अवस्था में वे आकार काम में आते हैं। पहले आकार की भाँति, दूसरे तीसरे और चौथे आकार के भी डिक्टम डी ओम्नाई की तरह मूल सूत्र बनाए गए हैं। अनुमान कभी सीधी रीति से होता है, कभी चक्कर से, किन्तु जो चक्कर से होता है; उसको अयथार्थ नहीं कह सकते। दूसरे, तीसरे और चौथे आकारों के अनुमानों की पुष्टि के लिये पिछले लोगों ने परिवर्त्तन की क्रिया निकाली थी। परिवर्तन की रीति के द्वारा दूसरे, तीसरे और चौथे आकारों के अनुमान पहले आकार में रख दिए जाते हैं; और फिर यह दिखलाया जाता है कि पहले आकार में भी उस सामग्री से वही निगमन निकलता है। सभी आकार अनुमान के आकार हैं; और यह नहीं कहा जा सकता कि जब तक अनुमान की सामग्री पहले आकार में न रख ली जाय, तब तक अनुमान विश्वास योग्य नहीं। यदि ऐसा है, तो परिवर्तन से क्या लाभ ?। परिवर्तन से

परिवर्तन की उपयोगिता

दो लाभ हैं। पहला तो यह कि अनुमान दोबारा जाँचे जाने के कारण और भी पुष्ट हो जाता है। यह बात नहीं कि प्रथम को छोड़कर और आकारों के अनुमान ठीक नहीं; किन्तु पहले आकार में रखकर यह दिखलाया जाता है कि उसी सामग्री को दूसरे आकार में रखने में वही निगमन प्राप्त होता है। परिवर्तन से दूसरा लाभ यह है कि हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि अनुमान चाहे जिस प्रकार से किया जाय, उसका मूल आधार एक ही है। भिन्न भिन्न आकारों के मूल की एकता परिवर्तन से भी साबित होती है। पहले आकार के अनुमानों को भी हम दूसरे आकार में रख सकते हैं। किन्तु इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं। हाँ, अभ्यास के लिये यह बात अच्छी है। अब एक बार फिर पूरा पूरा अर्थ लगाने के लिये धारिणी देते हैं।

धारिणी की कुंजी और साधारण परिवर्तन

	ए ए ए	ई ए ई	ए ऐ ऐ ई ऐ ओ
प्रथमे—	तेरतेरे	थीलेरीन	दे रै कै धी रै ओ
	ई ए ई	ए ई ई	ई ए ओ ए ओ ओ
द्वितीये-	थीसेरी,	थेमीख्रीस,	धीसतैनो नेरोको,
	ए ए ऐ	ऐ ए ऐ	ए ऐ ऐ ई ए ओ ओ ए ओ
तृतीये-	दे रे प्तै,	दै से मैस,	दे तै सै, धीलेप्तोन, नो के रो

ए ए ऐ ए ई ई ऐ एऐ ई ए ओ ई ऐ ओः
चतुथ-त्रेमेन्तैप, थेमीनोस, दै मे रैस धीसेयो, ध्रीसैसोन

इसमें जो स्वर हैं, वे योग हैं। दूसरे और तीसरे आकारों में पहले अक्षर यह बात सूचित करते हैं कि नेरोको और नोकेरो को छोड़कर उस अक्षर से आरम्भ होनेवाले योग का पहले आकार में के उसी अक्षर से आरम्भ होनेवाले योग में परिवर्त्तन होगा। दूसरे आकार के थेमीस्रीस का पहले आकार के थीलेरीन में परिवर्त्तन होगा। देतैसै का दा से आरम्भ होने वाले देरैकै योग में परिवर्तन होगा। तेरतेरे तो अद्वितीय योग हैं। इसके अनुकूल और आकारों के कोई योग नहीं। थ से शुरू होनेवाले योग प्रथम आकार के धीलेरीन में परिवर्त्तित होंगे। द से शुरू होनेवाले योग देरैकै में परिवर्त्तित होंगे। धा से शुरू होनेवाले योग धीरैओ में परिवर्त्तित होंगे। स का अर्थ सरल परिवर्त्तन है। अर्थात् जिस आकार के पश्चात् स हो, उस अक्षर से सूचित किए गए वाक्य का सरल परिवर्त्तन करना आवश्यक है। प का अर्थ है परिच्छेद या संकोच से परिमित परिवर्त्तन। जिस अक्षर के बाद प आवे, उससे सूचित किए हुए वाक्य का परिच्छेद वा संकोच से परिमित परिवर्तन कर देना चाहिए। म का अर्थ है मापक वाक्यों का उलट पलट कर देना; अर्थात् जहाँ पर म आवे, वहाँ परिवर्तन के समय बृहदनुमापक वाक्य को लघ्वनुमापक वाक्य और लघ्वनुमापक वाक्य को बृहदनुमापक वाक्य बना दिया जाय; और सब

अक्षर निरर्थक हैं। परिवर्तन दो प्रकार से होते हैं—एक सीधी रीति से और एक फेर से। सीधी रीति से जो अनुमान होता है, उसमें इन्हीं अक्षरों के संकेत का सहारा लिया जाता है। और जो परिवर्तन फेर से किया जाता है, उसमें तर्क काम में लाया जाता है। फेर का परिवर्तन केवल नेरोको और नोकेरो के सम्बन्ध में काम में लाया जाता है; किन्तु उनका भी सीधी रीति से परिवर्तन हो सकता है। सीधी रीति से परिवर्तन के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

थेमीस्त्रीस

ए–सब शृङ्गधारी घास खाते हैं।

ई–शेर घास नहीं खाता।

ई–अतः शेर श्रृङ्गधारी नहीं है।

थेमीस्त्रीस का इस प्रकार अर्थ लगाना चाहिए—

थ का अर्थ वह है कि थेमीस्त्रीस का परिवर्त्तन होकर थीलेरीन हो जायगा। स का अर्थ यह है कि स से पहले आनेवाले वाक्य का साधारण परिवर्त्तन कर दिया जायगा। म का अर्थ यह है कि वाक्य बदले जायँगे; अर्थात् बृहदनुमापक वाक्य को लघ्वनुमापक वाक्य बनाया जायगा और लघ्वनुमायक वाक्य बृहदनुमापक वाक्य बनाया जायगा। इन संकेतों को काम में लाते हैं। लघ्वनुमापक वाक्य ई है। उसका परिवर्तन करके उसको बृहदनुमापक वाक्य बना

देना चाहिए। निगमन के बाद भी स आता है। उसका भी साधारण परिवर्त्तन करना उचित है।

ई—कोई घास खानेवाला जानवर शेर नहीं।

ए-सब श्रृङ्गधारी जानवर घास खानेवाले होते हैं।

ई-कोई श्रृङ्गधारी जानवर शेर नहीं।

अब पुनः परिवर्त्तन द्वारा हम पूर्व अनुमान का निगमन प्राप्त कर सकते हैं कि कोई शेर श्रृंगधारी नहीं है।

देरेप्तै का परिवर्तन दा रे प से होगा।

ए-सब बिना मूल्य शिक्षा देनेवाली पाठशालाएँ सहायता देने योग्य हैं।

ए-सब बिना मूल्य शिक्षा देनेवाली पाठशालाएँ उपयोगी संस्थाएँ हैं।

ए-अतः कुछ उपयोगी संस्थाएँ सहायता देने योग्य हैं।

देरेप्तै में प सार्थक है। प का अर्थ परिच्छेद से परिवर्त्तन है। प लघ्वनुमापक वाक्य के पश्चात् आता है; इसलिये उसी का परिवर्त्तन करना चाहिए।

ए-सब बिना मूल्य शिक्षा देनेवाली पाठशालाएँ सहायता देने योग्य हैं।

ऐ-कुछ उपयोगी संस्थाएँ बिना मूल्य शिक्षा देनेवाली हैं।

ए-अतः कुछ उपयोगी संस्थाएँ सहायता के योग्य हैं।

इसी प्रकार अन्य योगों का भी इन संकेतों के सहारे परिवर्तन किया जाय। संकेतों के बिना भी परिवर्त्तन करने का

अभ्यास डाला जाय। जैसे, दैसेमैस लीजिए—

कुछ मनुष्य कवि होते हैं ऐ
सब मनुष्य जीवधारी होते हैं ए
अतः कुछ जीवधारी कवि होते हैं ऐ

यह बात पहले आकार के विशेष नियम में बतला दी गई है कि पहले आकार का वृहदनुमापक वाक्य पूर्ण व्याप्ति-वाला होना चाहिए; इसलिये लघ्वनुमापक वाक्य को वृहदनु-मापक वाक्य बनाना चाहिए। पहले आकार के अनुकूल मध्य पद करने के लिये 'मनुष्य' को साधारण परिवर्तन द्वारा विधेय बनाना चाहिए। निगमन के उद्देश्य और विधेय का परिवर्तन करना चाहिए, यह स्पष्ट ही है। धारिणी के द स म स अक्षर भी यही बतलाते हैं। नया अनुमान दारैकै है।

सब मनुष्य जीवधारी हैं।
कुछ कवि मनुष्य हैं।
अतः कुछ कवि जीवधारी हैं।

फेर से परिवर्तन

ए, सब पक्षी अंडज हैं।
ओ, कुछ जीवधारी अंडज नहीं हैं।
ओ, अतः कुछ जीवधारी पक्षी नहीं हैं।
यह दूसरे आकार का नेरोको है।

यदि हमारा निगमन ठीक नहीं, तो उसका व्याघातक वाक्य "सब जीवधारी पक्षी हैं" ठीक होगा। इस वाक्य को पूर्व

अनुमान के एक अनुमापक वाक्य से मिलाकर पहले आकार का अनुमान वनावें और देखें कि निगमन के व्याघातक को सत्य मानने का क्या फल होता है।

सब पक्षी अंडज हैं—पूर्वानुमान से।

सब जीवधारी पक्षी हैं—निगमन का व्याघात, जिसको सत्य माना है।

अतः सब जीवधारी अंडज हैं।

"सब जीवधारी अंडज हैं" यह पूर्व अनुमान के लघ्वनुमापक वाक्य का व्याघातक है। इन दोनों में से कोई एक अवश्य अयथार्थ होगा। पूर्व अनुमान के लघ्वनुमापक वाक्य की यथार्थता में संदेह करने का तो हमें कोई अधिकार नहीं। जब उसको ठीक माना ही है, तब दूसरे अनुमान का निगमन "सब जीवधारी अंडज हैं" अयथार्थ है। इस अयथार्थता का क्या कारण हो सकता है?। या तो पूर्व वाक्यों में कुछ अयथार्थता होगी, या अनुमान की रीति में कुछ अशुद्धता होगी। अनुमान की रीति में कोई अशुद्धि नहीं हो सकती; क्याकि हमारा अनुमान पहले आकार में है। तो फिर पूर्व वाक्यों ही में अशुद्धि होगी। बृहदनुमापकवाक्य तो अयथार्थ हो नहीं सकता, क्योंकि वह पूर्वानुमान से लिया गया है। तो फिर लघ्वनुमापक वाक्य अवश्य गलत होगा। यदि लघ्वनुमापक वाक्य, जो कि पूर्वानुमान के निगमन का व्याघातक है, गलत है, तो पूर्वानुमान का निगमन अवश्य ठीक होगा। और यही सिद्ध करना था। इसी प्रकार नोकेरो

का भी परिवर्तन किया जायगा। अब इन योगों के सीधे परिवर्तन की रीति बताई जाती है।

ए सब जीवन में सफलता प्राप्त करनेवाले आलस्यशून्य होते हैं।

ओ, कुछ विद्यार्थी आलस्यशून्य नहीं होते।

ओ अतः कुछ विद्यार्थी जीवन में सफलता प्राप्त करनेवाले नहीं होते।

अब हमको देखना चाहिए कि इस अनुमान को हम किस प्रकार पहले आकार में रख सकते हैं। "आलस्यशून्य होते हैं" यह मध्य पद है। इसको बृहदनुमापक वाक्य का उद्देश्य बनाना है। इसको बिना उद्देश्य बनाए हम अनुमान को पहले आकार की स्थिति में नहीं रख सकते। यह किस प्रकार हो सकता है? बृहदनुमापक वाक्य ए संज्ञा रखता है। इसका साधारण परिवर्तन नहीं हो सकता। इसको गुण-भेद क्रिया से निषेधात्मक बनाना आवश्यक है; क्योंकि फिर इस वाक्य का साधारण परिवर्त्तन हो सकेगा।

नेरोको का साधारण परिवर्तन।

गुण भेद द्वारा परिवर्तन

कोई जीवन में सफलता प्राप्त करनेवाले लोग आलसी नहीं।

कोई आलसी लोग जीवन में सफलता प्राप्त करनेवाले नहीं।

लघ्वनुमापक वाक्य की संज्ञा ओ है। पहले आकार में निषेधात्मक वाक्य लघ्वनुमापक वाक्य नहीं हो सकता। इससे

इसका भी गुण-भेद आवश्यक है। गुण-भेद से एक और भी लाभ होगा। वह यह कि बृहदनुमापक वाक्य में मध्य पद आलस्य-शून्य के स्थान में 'आलसी' हो गया। लघ्वनुमापक वाक्य के गुण भेद से उसमें भी मध्य पद 'आलस्यशून्य' से 'आलसी' हो जायगा। यदि यह बात न होती, तो भी गुण भेद आवश्यक था; क्योंकि अनुमान में दो निषेधात्मक वाक्य नहीं हो सकते।

अब अनुमान पहले आकार में इस प्रकार से रक्खा जा सकता है--

ई--कोई आलसी लोग जीवन में सफलता प्राप्त करनेवाले नहीं होते।

ऐ--कुछ विद्यार्थी लोग आलसी होते हैं।

ओ--कुछ विद्यार्थी लोग जीवन में सफलता प्राप्त करनेवाले नहीं होते।

यह धीरैओ योग बन गया।

नोकेरो का साधारण परिवर्तन

ओ--कुछ वकील लोग दयावान नहीं होते।

ए--सब वकील लोग साक्षर होते हैं।

ओ--कुछ साक्षर लोग दयावान नहीं होते।

इस अनुमान को पहले आकार में लाने के लिये दो बातें, आवश्यक हैं। पहली यह कि बृहदनुमापक वाक्य पूर्ण व्याप्ति-वाला बनाया जाय; और दूसरी बात यह कि लघ्वनुमापक वाक्य भावात्मक हो।

पहली बात पूरी करने के लिये हम लघ्वनुमापक वाक्य को बृहदनुमापक वाक्य बना दें। फिर बृहदनुमापक को लघ्वनुमापक वाक्य बनाने से पहले उसमें हमको कुछ परिवर्त्तन करना आवश्यक होता है। पहला परिवर्त्तन तो यह होगा कि उसको भावात्मक बनाया जाय। इसके पश्चात् उसका साधारण परिवर्त्तन कर दिया जाय, जिससे मध्य पद विधेय हो जावे। इन सब परिवर्त्तनों के बाद अनुमान का आकार इस प्रकार होगा—

सब वकील लोग सात्तर हैं।
कुछ निर्दय लोग वकील हैं।
कुछ निर्दय लोग सात्तर हैं।

प्रस्तुत अनुमान का निगमन पूर्व अनुमान से भिन्न प्रतीत होता है; किन्तु सहज ही में हम इसको पूर्व अनुमान के निगमन का रूप दे सकते हैं। इसका साधारण परिवर्त्तन कर गुण भेद से हमको यह वाक्य "कुछ सात्तर लोग दया नहीं करते" मिल जाता है, जो पूर्व निगमन से भिन्न नहीं है।

कुछ तार्किकों ने इन अनुमानों के सीधे परिवर्त्तन के लिये भी संकेत बनाए हैं। पर केवल संकेतों का आश्रय लेना ठीक नहीं। विद्यार्थियों को चाहिए कि बिना संकेतों का आश्रय लिये हुए भी अनुमानों के परिवर्त्तन का यत्न करें।

दसवें अध्याय पर अभ्यासार्थ प्रश्न

निरपेक्ष लैङ्गिक अनुमान

(१) लैङ्गिक और अलैङ्गिक अनुममें भेद बतलाइए। मध्य पद, पक्ष और साध्य का परस्पर संबंध और उपयोगिता बतलाइए।

(२) नीचे लिखे हुए न्यायों में निगमन, साध्य, पक्ष, मध्य पद, साध्य वाक्य या बृहदनुमापक वाक्य और पक्ष वाक्य या लघ्वनुमापक वाक्य बतलाइए।

(१) सब चम्पक वृक्षों को जल की आवश्यकता होती है; क्योंकि वे वृक्ष हैं; और सब वृक्षों को जल की आवश्यकता होती है।

(२) शब्द बनता है; और सब बननेवाले पदार्थ सान्त होते हैं; इसलिये शब्द सान्त है।

(३) सब जानवरों को पेट भरने की आवश्यकता होती है। सर्पों को भी पेट भरने की आवश्यकता होती है; क्योंकि वे जानवर हैं।

(४) लैङ्गिक अनुमान के छः मुख्य नियम और दो गौण नियम बतलाइए। गौण नियमों को मुख्य नियमों से सिद्ध कीजिए।

(३) मध्य पद को दो पूर्व वाक्यों में से कम से कम एक वार क्यों व्याप्त होना चाहिए?

(४) सिध्य पद की अनुचित प्रक्रिया और पक्ष पद की अनुचित प्रक्रियाओं से क्या अभिप्राय है, उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।

आकार और योग

(५) आकर किसे कहते हैं? आकार कितने हैं? अरस्तू ने कितने आकार माने थे?

(६) चारों आकारों का एक एक न्याय बनाइए।

(७) योग किसको कहते हैं? क्या नीचे लिखे योग सम्भव हैं? यदि नहीं तो उनसे अनुमान के कौन से नियमों का विरोध होता है?

ऐ ई ए, ऐ ऐ ए, ऐ ई ओ, ओ ए ई, ए ऐ ए, ई ऐ ओ।

(८) ऐ ई योग से कोई यथार्थ निगमम नहीं निकल सकता, इस बात को सिद्ध कीजिए।

(९) नीचे लिखे योग किन किन आकारों में सम्भव हैं ? उन योगों के नाम भी दीजिए।

ए ए ए, ए ई, ई, ऐ ए ऐ, ई ए ओ।

(१०) नीचे लिखे हुए न्यायों का योग बतलाइए और यह भी कहिए कि कौन किस प्रकार का है।

श्रीवल्लभाचार्य्य धार्मिक नेता हैं।
श्रीवल्लभाचार्य्य तार्किक हैं।
अतः कुछ तार्किक धर्म-नेता हैं।
कोई चौपाया कपड़े नहीं पहनता।
कुछ कपड़े पहननेवाले सुखी हैं।
अतः कुछ सुखी लोग चौपाए नहीं हैं।
कोई चौपाया अपने हाथ से पकाकर खाना नहीं खाता।
कुछ मनुष्य अपने हाथ से पकाकर खाना खाते हैं।
अतः कुछ मनुष्य चौपाए नहीं हैं।
कोई धातु मिश्रित पदार्थ नहीं है।
सोना धातु है।
अतः सोना मिश्रित पदार्थ नहीं है।
सब नौकर लोग पराधीन हैं।
दूकानदार लोग पराधीन नहीं हैं।
अतः दुकानदार लोग नौकर नहीं हैं।

(११) ऐसे उदाहरण दीजिए जिनमें अयथार्थ पूर्व वाक्यों से यथार्थ निगमन निकल सके।

(१२) निम्नलिखित निगमनों के लिये उचित पूर्व वाक्य बतलाइए—

कुछ तार्किक लोग मूर्ख होते हैं।

शब्द अनित्य है।
कुछ धनी लोग सुखी नहीं हैं।
कुछ धनी सुखी हैं।
कोई कोई प्रजातंत्र राज्य स्वतंत्रता के बाधक होते हैं।
कोई चोर ईमानदार नहीं।
सब स्थिर तारागण गुरुत्वाकर्षण का नियम पालन करते हैं।

(१३) चारों आकारों के विशेष नियम बतलाइए।
(१४) कौन आकार किस प्रकार के निगमन देने की विशेष उपयोगिता रखता है?
(१५) पहले आकार को क्यों प्रधानता दी गई है?
(१६) अरस्तू का अनुमान संबंधी मुख्य सूत्र बतलाइए।
(१७) यदि बृहदनुमापक वाक्य अपूर्ण व्याप्तिवाला निषेधात्मक वाक्य हो, तो किस योग और आकार का अनुमान बनेगा?
(१८) दूसरे आकार में बृहदनुमायक वाक्य क्यों पूर्ण व्याप्तिवाला होना चाहिए?
(१९) कमजोर योग किसको कहते हैं?
(२०) अपूर्ण व्याप्तिवाला निषेधात्मक वाक्य पहले और चौथे आकार में क्यों नहीं पूर्व वाक्य बन सकता?
(२१) तीसरे आकार के निगमन क्यों अपूर्ण व्याप्तिवाले होते हैं?
(२२) चौथे आकार के विशेष नियम बतलाइए और उनको सिद्ध भी कीजिए।
(२३) ए निगमन पहले ही आकार में क्यों सम्भव है?
(२४) पूर्व वाक्यों में निगमन की अपेक्षा जो एक पद अधिक व्याप्त होता है, उसका कारण बतलाइए।
(२५) ऐसा न्याय बतलाइए जिसमें केवल एक ही पद व्याप्त हो।
(२६) निषेधात्मक अनुमानों में कम से कम और अधिक से अधिक कितने पद व्याप्त हो सकते हैं?

(२७) किन किन आकारों में पक्ष वाक्य (लघ्वनुमापक वाक्य) निषेधात्मक हो सकता है और किन किन आकारों में वृहदनुमापक वाक्य अपूर्ण व्याप्ति-वाला हो सकता है? सकारण उत्तर दीजिए।

(२८) योगों के परिवर्तन से क्या अभिप्राय है? उसकी उपयोगिता बतलाइए।

(२९) योगों का परिवर्तन कितने प्रकार का होता है? दोनों प्रकार के उदाहरणों के उदाहरण दीजिए।

(३०) क्या सब योगों का सीधा परिवर्तन हो सकता है? अगर नहीं, तो किनका नहीं? क्या उनका भी किसी प्रकार सीधा परिवर्तन हो सकता है?

(३१) नीचे लिखे न्यायों का योग बतलाइए और इनका पहले आकार में परिवर्तन कीजिए।

सब मिथ्यावादी निन्दास्पद होते हैं।
सब मिथ्यावादी कायर होते हैं।
अतः कुछ कायर लोग निन्दास्पद होते हैं।

सब नूतन आविष्कर्ता बुद्धिमान होते हैं।
कोई विक्षिप्त बुद्धिमान नहीं होता।
अतः कोई विक्षिप्त नूतन आविष्कर्ता नहीं होता।

(३२) नीचे लिखे नियमों का परिवर्तन बिना धारिणी की सहायता के कीजिए।

वायु भौतिक पदार्थ है।
कोई भौतिक पदार्थ बोझ से शून्य नहीं।
अतः वायु बोझ से शून्य नहीं है।

कोई मूर्त पदार्थ नित्य नहीं है।
कुछ मूर्त पदार्थ खनिज हैं।
अतः कुछ खनिज पदार्थ नित्य नहीं हैं।

(३३) नीचे के न्यायों को तार्किक रूप देकर उनकी यथार्थता पर विचार कीजिए। जो यथार्थ हों, उनका आकार और योग बतलाइए।

(१) सब वकील लोग मिथ्यावादी हैं।

कोई साधु वकील नहीं है।

अतः कोई साधु मिथ्यावादी नहीं है।

(२) कोई कल्पनाशून्य मनुष्य कवि नहीं हो सकता।

कुछ तार्किक लोग कल्पना-शून्य अच्छे तार्किक हैं।

इसलिये कोई अच्छा कवि तार्किक नहीं है।

(३) कोई आलसी आदमी इतिहास-लेखक नहीं हो सकता।

मेकाले अच्छा इतिहास-लेखक है।

अतः वह आलसी नहीं।

(४) चैतन्य महाप्रभु अच्छे धर्मात्मा हैं।

चैतन्य महाप्रभु अच्छे विद्वान् हैं।

अतः सब विद्वान् लोग धर्मात्मा हैं।

(५) जो यथाभोग संतुष्ट होते हैं, वही वास्तविक धनी होते हैं।

राजा लोग यथाभोग संतुष्ट नहीं होते।

अतः राजा लोग वास्ताविक धनी नहीं होते।

(६) हर एक निर्भय आदमी स्वतंत्र होता है।

कोई सरकारी नौकर निर्भय नहीं है।

अतः कोई सरकारी नौकर स्वतंत्र नहीं है।

(७) कुछ गणितज्ञ तार्किक हैं।

कोई तार्किक अरस्तू के ग्रंथों से अनभिज्ञ नहीं है।

अतः कुछ गणितज्ञ अरस्तू के ग्रंथों से अनाभिज्ञ नहीं है।

(८) देवदत्त का चाल चलन अच्छा नहीं मालूम होता; क्योंकि वह प्रायः बाजार में सायंकाल के समय खुशबू भरे हुए श्वेत वस्त्र पहने दिखाई देता है। विषयी लोग प्रायः ऐसा ही किया करते हैं।

(९) वह मनुष्य गरीब है; क्योंकि उसके यहाँ कोई कपड़े का कारखाना नहीं। जिन लोगों के यहाँ कपड़े के कारखाने होते हैं, वे अमीर होते हैं।

(१०) वह आदमी बदमाश है; क्योंकि 'क्वचित् काणा भवेत् साधुः।'

मनोरंजन पुस्तकमाला

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) आदर्श जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल।
(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।
(४, ५, ६) आदर्श हिंदू, तीन भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा।
(७) राणा जंगवहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(८) भीष्म पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।
(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपत जानकीराम दुबे
(१०) भौतिक विज्ञान—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी०
(११) लालचीन—लेखक व्रजनंदनसहाय।
(१२) कबीर-वचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय।
(१३) महादेव गोविंद रानडे-लेखक रामनारायण मिश्र बी० ए०
(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।
(१५) मितव्यय—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।
(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमारदेव शर्म्मा।
(१७) वीरमणि—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए०।
(१८) नेपोलियन बोनापार्ट-लेखक राधामोहन गोकुलजी।
(१९) शासनपद्धति—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार।
(२०,२१) हिंदुस्तान दो खंड-लेखक दयाचंद्र गोयलीय बी० ए०।
(२२) महर्षि सुकरात—लेखक वेणीप्रसाद।
(२३) ज्योतिर्विनोद—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी०
(२४) आत्मशिक्षण—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए०।

(२५) सुंदरसार—संग्रहकर्त्ता पुरोहित हरिनारायण शर्म्मा बी० ए० ।

(२६, २७) जर्मनी का विकास, दो भाग—लेखक सूर्य-कुमार वर्म्मा ।

(२८) कृषिकौमुदी—लेखक दुर्गाप्रसादसिंह एल० ए-जी०

(२९) कर्तव्यशास्त्र—लेखक गुलाबराय एम० ए०

(३०, ३१) मुसलमानी राज्य का इतिहास, दो भाग— लेखक मन्नन द्विवेदी बी० ए०

(३२) महाराज रणजीत सिंह—लेखक वेणीप्रसाद ।

(३३, ३४) विश्वप्रपंच, दो भाग—लेखक रामचंद्र शुक्ल ।

(३५) अहिल्याबाई—लेखक गोविंदराम केशवराम जोशी ।

(३६) रामचंद्रिका—संकलनकर्त्ता लाला भगवानदीन ।

(३७) ऐतिहासिक कहानियाँ—लेखक द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी ।

(३८, ३९) हिंदी निबंधमाला, दो भाग—संग्रहकर्त्ता श्याम-सुन्दरदास बी० ए० ।

(४०) सूरसुधा—संपादक गणेशबिहारी मिश्र, श्याम- विहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र ।

(४१) कर्त्तव्य—लेखक रामचंद्र वर्म्मा ।

(४२) संक्षिप्त रामस्वयंवर—संपादक व्रजरत्नदास ।

(४३) शिशु-पालन—लेखक मुकुन्दस्वरूप वर्म्मा ।

माला की प्रत्येक पुस्तक या उसके किसी भाग का मूल्य १) है; पर स्थायी ग्राहकों को सब पुस्तकें तीन चौथाई मूल्य पर दी जाती हैं ।

एक कार्ड भेजकर उत्तमोत्तम पुस्तकों का बड़ा और नया सूचीपत्र मँगवाइए ।

प्रकाशन मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा,
बनारस सिटी ।

